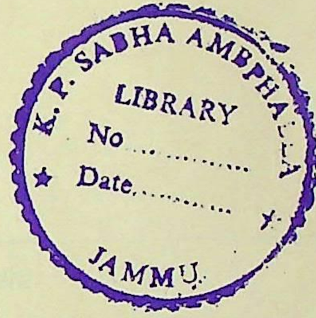
शीराज़ा

हिन्दी

त कला, संस्कृति व साहित्य अकादमी जम्मू-कश्मीर जम्मू





शीराज़ा हिन्दी

सम्पादक

नरेन्द्र खजूरिया

ललितकला, संस्कृति व साहित्य अकादमी जम्मू-कश्मीर, जम्मू ।

प्रति अंक : दो रुपये

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता :

नरेन्द्र खजूरिया

सम्पादक **शीराज़ा** (हिन्दी)

ललितकला, संस्कृति व साहित्य अकादमी जम्मू व कश्मीर

एक्सचेंज रोड, जम्मू ।

फोन : ५०४०

प्रो० जे० लाल कौल, सैक्रेटरी, द्वारा ललितकला, संस्कृति व साहित्य अकादमी जम्मू व कश्मीर के लिए प्रकाशित तथा योगेश प्रेस, जालन्धर में मुद्रित ।

अक्तूबर १९६५

पत्र–मंच



ठाकुर पुंछी, नई दिल्ली

'शीराज़ा' का प्रवेशांक हर लिहाज से उत्कृष्ट है। मुझे आशा है आपके हाथों में शीराज़ा दिनों-दिन संवरेगा।

वेदराही, बम्बई

'शीराज़ा' प्राप्त हुआ। मैंने कम से कम इसे बीस बार उठा कर देखा है (पढ़ा भी है) और हर बार यही सोचता हूं कि कितनी अच्छी पत्रिका प्रकाशित की है आपने। जम्मू-कश्मीर राज्य से ऐसी साहित्यिक पत्रिका इससे पहले कभी प्रकाशित नहीं हुई थी। राज्य के हिन्दी साहित्य क्षेत्र में यह एक संगे मील है......।

त्रिलोक दीप, नई दिल्ली

वास्तव में जैसी कल्पना की थी उससे कहीं बढ़ कर यह अंक निकला है। इसका पूर्ण श्रेय आप तथा आपके अथक परिश्रम को है। 'शीराज़ा' का मैंने पठन-पाठन किया है और उसमें निहित सामग्री को पढ़ कर अत्यन्त प्रभावित हुआ हूं।

शेरजंग गर्ग, नई दिल्ली

'शीराज़ा' का प्रथम अंक देखा। आपके द्वारा सम्पादित इस पत्रिका में सुरुचि पन्ने-पन्ने रर अंकित है। क्षेत्रिय लेखकों की रचनायें आकर्षक तथा उस्तादाना हैं। वेदराही का लेख बहुत पसन्द आया। कुल मिलाकर शीराज़ा वाकई शीराज़ा है।

पृथ्वीनाथ मधुप, श्रीनगर

'शीराज़ा' की साज-सज्जा और सम्पादन देखकर मोहित हुआ। मैं बिना किसी अतिशयोक्ति के कह रहा हूं कि 'शीराज़ा' हिन्दी की उच्च-स्तरीय पत्रिकाओं में स्थान प्राप्त करेगा।

चन्द्रकांत जोशी अनन्तनाग (कश्मीर)

'शीराज़ा' प्राप्त हुआ । इससे आप के समुचित एवं सरुचिपूर्ण सम्पादन की ललित झलक मिलती है । पहला प्रयास होने पर भी इसे पहला ही कहना तथ्यमय नहीं लगता । यह एक सिद्ध-हस्त तथा मंजे हुए कलाकार का ही काम है ।

मनसाराम शर्मा 'चंचल', श्रीनगर

'शीराज़ा' की प्रति मिली । सामग्री, सज्जा, स्तर, सम्पादन— सभी दृष्टि से इसे परिपूर्ण पाया और आशा से भी कहीं अधिक सफल ।

जम्मू व कश्मीर से इस प्रकार की उच्चस्तरीय पत्रिका का प्रकाशन न केवल इस प्रदेश के एक भारी अभाव की पूर्ति है, अपितु स्वस्थ साहित्य की अभिवृद्धि और स्थानीय लेखकों को प्रोत्साहित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण पग भी है ।

आपने जिस ढंग से स्तरीय सामग्री का चयन कर, अपने योग्यपूर्ण सम्पादकत्व से उसे सज्जा प्रदान की है, वह कम प्रशंसनीय नहीं ।

रामनायण शुक्ल, इलाहाबाद

'शीराज़ा' का अंक देखा । निश्चय ही यह एक अभूतपूर्व प्रयास है । बधाई स्वीकारें ।

प्रो० सुभाष भारद्वाज, भद्रवाह

'शीराज़ा' प्रवेशांक मिला । इतनी सुन्दर पत्रिका जम्मू व कश्मीर जैसे अहिन्दी प्रदेश में हिन्दी के विकास के लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगी । यह मेरी आशा है और हार्दिक कामना भी है कि आपके सम्पादन में रहकर यह बहुत जल्दी भारत की उच्चस्तरीय पत्रिकाओं में गिनी जायेगी ।

प्रो० मदन मोहन, जम्मू

जैसी कि उम्मीद थी आपके सम्पादन में हिन्दी 'शीराज़ा' एक उच्च चोटी की पत्रिका के रूप में आई है । आपने बड़ी सूझ-बूझ से सामग्री का चयन किया है । पूर्ण विश्वास है कि शीराज़ा के आगामी अंक और अधिक आब-ो-ताब से निकलेंगे ।

शीराज़ा हिन्दी

लेख

काव्य-धारा

कथा-साहित्य

स्तम्भ

बिम्ब-प्रतिबिम्ब

शीराज़ा (हिन्दी)

'शीराज़ा' (हिन्दी) के प्रवेशांक का हमारे पाठकों, समालोचकों तथा साहित्यिक मनीषियों ने जिस स्नेह से स्वागत किया उससे हमें निश्चय ही बल मिला है। हम इस प्रोत्साहन के लिए आभार प्रकट करते हुए अपने पाठक-वर्ग को विश्वास दिलाते हैं कि भविष्य में भी हम 'शीराज़ा' के माध्यम से सांस्कृतिक-जागरण तथा साहित्यिक विकास-उन्नयन सम्बन्धी रुचिपूर्ण और उपयोगी सामग्री आपकी सेवा में प्रस्तुत करते रहने का यत्न करेंगे।

प्रवेशांक में केवल हमारे राज्य के ही साहित्यकारों की रचनाएं संकलित थीं परन्तु प्रस्तुत अंक में देश के कई लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकारों का भी सहयोग हमें प्राप्त हुआ है, जिससे आपको 'शीराज़ा' का रंगरूप अवश्य ही निखरा हुआ लगेगा।

इस अंक में आप इस प्रदेश के सांस्कृतिक दाय की कुछ उज्जवल झलक भी पाएंगे जिसमें कश्मीर घाटी के महाकवि परमानन्द तथा युगप्रवर्तक कश्मीरी आलोचक मम्मट के कृतित्व के अतिरिक्त, लोकगीतों तथा लोकपर्वों में जम्मू व कश्मीर के लोक-जीवन का अभिराम उन्मेष महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार 'शीराज़ा' को हम स्थानीय प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाओं के साथ-साथ देश की व्यापक हिन्दी-साधना की गरिमा से भी मंडित करने की आकांक्षा लेकर यह अंक आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं।

नरेन्द्र खजूरिया

महाप्राण निराला : एक संस्मरण

विष्णु प्रभाकर

निरालाजी का स्मरण आते ही अक्तूबर १९३९ की सन्ध्या का एक दृश्य सहसा आंखों में उभर आता है। उस वर्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन काशी में हुआ था। सभापति थे सम्पादकाचार्य पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी और स्वागताध्यक्ष महामना पंडित मदनमोहन मालवीय। निरालाजी साहित्य परिषद के सभापति थे। उनके अनुरूप ही उनका भाषण भी निराला था जो 'राग केदारा' के उल्लेख से प्रारम्भ हुआ था और तब तक के भाषणों में सब से संक्षिप्त था। लेकिन सबसे निराली बात हुई उस सन्ध्या को। अचानक बिजली फेल हो गई। दर्शकों में अधिकांश विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे। वे चंचल, सदा कुछ न कुछ करने को आतुर-व्याकुल रहते हैं, निश्चित था कि उस अन्धकार में कुछ न कुछ शरारत हो जाती कि तभी उसके ऊपर हो कर एक स्वर वहां गूंज उठा :

रवि अस्त हुआ ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम रावण का अपराजेय समर।

वह अपराजेय महाप्राण स्वर महाप्राण निराला का था। जब तक प्रकाश लौट नहीं आया वही स्वर गूंजता रहा। नर का ओजस्वी स्वर और 'राम की शक्ति पूजा', उत्तेजित वातावरण स्तब्ध हो रहा। जैसे वहां और कुछ नहीं था, केवल एक स्वर था जो संगीत और शक्ति का अद्भुत सम्मिश्रण था।

है अमा निशा उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध है पवन-चार

तब वह स्वर ही सत्य था, विधाता था। उसका सशक्त जीवन दर्शन प्राणों को गुंजल में लपेटे रहा।

फिर पांच वर्ष बीत गए। १९४५ के वसन्त में अखिल भारतीय ब्रज साहित्य मण्डल का अधिवेशन दिल्ली में होना निश्चत हुआ। उसी के अन्तर्गत विशाल कवि-सम्मेलन का भी आयोजन था। निराला के नाम की उन दिनों धूम थी। उनको पत्र लिखा। तुरन्त उनके अपने हाथ का लिखा उत्तर आया :

श्री

प्रियवर,

पत्र मिला। मेरा पुरस्कार तो आपको मालूम ही है। उसके बिना नहीं होगा। अगर भेज सकें तो १०-५ दिन से पहले भेजें। तभी आना हो सकता है। राजधानी में कस्तूरबा फण्ड के लिए उगाहे रुपयों के इतना है। इति।

आपका,
निराला

कस्तूरबा फण्ड! एक लाख रुपया। अकल्पनीय। साहस करके दो सौ रुपये का ड्राफ्ट भेज दिया। १९४५ में रुपये की प्रतिष्ठा इतनी नहीं घटी थी।

तीन-चार दिन बाद क्या देखता हूं कि पूछते-पूछते निराला जी हौजकाज़ी के पास, गली पीपल महादेव में, मेरे गरीबखाने पर सशरीर उपस्थित हो गये हैं। स्वागत समिति का कार्यालय वहीं पर था। मुझे जैसे स्वर्ग मिलता है। आत्मविभोर उनके सामने आता हूं। वही विशालकाय भव्य रूप, रेशमी कुर्ता, तहमद, लम्बे बाल, हाथ में दण्ड, आंखें ऐसी जैसे किसी दूसरे लोक में पहुंच गये हों। मैंने प्रणाम किया। सहसा दण्ड उठाकर क्रुद्ध कम्पित स्वर में हुंकार उठे, "मुझको तुमने पैसे भेजे थे?"

"जी, जी हां।"

"तुमने मेरा अपमान किया है।"

विस्मित-विमूढ़, स्तब्ध हो रहता हूं, मुख म्लान हो आता है। हृदय की धड़कन तीव्र होती है और वह हैं कि आंखें रक्तवर्ण किये बोले जा रहे हैं, "तुमने मेरी कीमत आंकी? तुमने मेरा विश्वास नहीं किया......?"

कवि सम्मेलन के मन्त्री भाई गोपाल प्रसाद व्यास आये, पण्डित दीनानाथ दिनेश आये, लेकिन अजस्र प्रवाह की तीव्रता में रंचमात्र भी अन्तर नहीं पड़ रहा। नेत्रों से रक्तिम चिंगारियां उड़ रही हैं। उस विशालकाय के सामने हम तीनों पिद्दी से भयातुर, कम्पित, किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े रह गये हैं। किसी तरह साहस बटोर कर मैं उनके साथी की ओर मुड़ा। पूछा, "आखिर बात क्या है?"

साथी शरारत से मुस्कराये। बोले, "आपने इन्हें ड्राफ्ट से रुपया भेजा, मनीआर्डर से नहीं, इसलिए नाराज हैं।"

निराला जी चीख उठे, "तुमने मुझे सरकार की मार्फत रुपया भेजा, मुझे बैंक जाना

पड़ा।''

प्राण मुक्त हुए। स्थिति सुलझी। विनम्र स्वर में मैंने निवेदन किया, ''आपको ड्राफ्ट से रुपया इसलिए भेजा था कि मिलने में सुविधा हो। मनीआर्डर कभी-कभी गलत व्यक्ति को दे दिया जाता है। बाद में बहुत झंझट होता है''

वे बोले, ''तुमने मेरी कीमत दो सौ रुपये आंकी ?''

व्यास जी ने कहा, ''आपकी कीमत कौन आंक सकता है ? ये तो किराये-भाड़े के लिए भेज दिये थे।''

सुनकर एक क्षण मौन स्थिर-दृष्टि हमें आंकते रहे। बहुत कुछ कह दिया उस दृष्टि ने। फिर धीर-गम्भीर स्वर में बोले, ''हुं......। अच्छा, मेरे ठहरने का प्रबन्ध कहाँ किया है ?''

तनाव दूर हो चुका था और आंखें तरल हो आई थीं। समुचित उत्तर पाकर वह अपने ठहरने के स्थान पर चले गये। फिर उस सम्मेलन में उन्हें नाना रूपों में देखा। प्रात: कालीन साहित्य गोष्ठी में वह अधिकतर मस्ती में चुहुलबाजी करते रहे। समाप्त होने पर बोले, ''सन्ध्या को कवि सम्मेलन का क्या कार्यक्रम है ?''

मैंने कहा, ''आज के कवि सम्मेलन की अध्यक्षता श्रीमती सरस्वती देवी डालमिया...।''

मैं अपना वाक्य पूरा कर पाता कि एकाएक ज्वालामुखी भभक उठा, ''यह मेरा अपमान है। वह कवि सम्मेलन की अध्यक्षता करे और मैं कविता पढ़ूं ? क्या समझा है आपने निराला को...?''

फिर वज्रपात। कांप उठा, पर तुरन्त हाथ जोड़ कर निवेदन किया, ''नहीं, नहीं आप क्यों पढ़ेंगे कविता। मुख्य कवि सम्मेलन तो कल है और आप उसके अध्यक्ष हैं।''

व्यास जी बोले, ''आपको तो आज आना ही नहीं था। यह तो आपकी कृपा है......।''

और फिर उन्होंने सम्मेलन के अध्यक्ष श्रीयुत श्री नारायण चतुर्वेदी की ओर देखा। आंखों ही आंखों में प्रार्थना की। सहज भाव से हंसते हुए चतुर्वेदी जी ने निराला जी का हाथ पकड़ लिया। बोले, ''आओ निराला जी, हम तो चलें। इन छोकरों को अपना काम करने दो।''

और सचमुच उस दिन वह कवि सम्मेलन में नहीं आये। लाज रह गई। अगले दिन का वह कवि सम्मेलन दिल्ली के इतिहास में अनेक कारणों से चिरस्मरणीय हो गया है। इतना बड़ा कवि सम्मेलन उससे पहले शायद ही कभी हुआ हो। गांधी मैदान में जो विशाल मण्डप बनाया गया था वह खचाखच भरा हुआ था। मंच पर खड़ी बोली, ब्रज और बुन्देल-खण्डी के अनेक प्रसिद्ध और नवोदित कवियों के बीच निराला जी नक्षत्र मण्डल में सूर्य के समान विराजमान थे। उनकी वह सुन्दर काया और वह अलबेला रूप आकर्षण का मानों केन्द्र बिन्दु बन गये थे। पहले दिन वह जितने उत्तेजित थे, उस दिन उतने ही सौम्य और शान्त थे। आज भी याद है, निराला जी पुकारते और एक के बाद एक कवि उठता। हवा

में तैरता हुआ उसका ओजस्वी मधुर स्वर अपार जनसमूह को आलोड़ित कर देता। उर्दू के गढ़ में हिन्दी की यह पहली उल्लेखनीय प्राणप्रतिष्ठा थी। जहां तक याद आता है इसी सम्मेलन में बेधड़क जी ने पहली बार हिन्दी में रूबाइयां पढ़ीं थीं। जनता गद्‌गद् हो उठी और निरालाजी तो जैसे आत्मविभोर हो रहे हों। तुरन्त जेब में हाथ डाला। तीस-बत्तीस रुपये अभी शेष थे। उन्हीं को बेधड़क जी की तरफ बढ़ाते हुए बोले, "आपने हमें प्रसन्न कर दिया। यह लो।"

उस रात्रि का वह अद्‌भुत दृश्य अब भी आंखों में उभर-उभर आता है। हर्ष से आलोड़ित जनसमूह से भरा वह विशाल पण्डाल, कवियों के बीच में मंच पर बैठे हुए निराला जी हाथ में नोट लिये बेधड़क जी की ओर देख रहे हैं और बेधड़क जी अपने स्थान की ओर जाते हुए जनता के बीच में ठिठके खड़े हैं। हाथ जोड़कर कह रहे हैं, "निराला जी, आपकी कृपा है, यह रहने दीजिये।"

निराला जी का हाथ हिलता है। दृढ़ उत्तेजित स्वर में कहते हैं, "यह हमारा आदेश है, लेने ही होंगे। हमारे पास इतने ही हैं, और भी होते तो दे डालते। तुमने मन प्रसन्न कर दिया।"

शब्द और हो सकते हैं, पर अर्थ यही था। विवश, बेधड़क जी को नतमस्तक होना पड़ा।

उसी दिन की एक और घटना याद आती है। किसी बन्धु की किसी असावधानी पर कानपुर के श्री जगदम्बा प्रसाद हितैषी और आगरा के श्री अमृतलाल चतुर्वेदी अप्रसन्न हो गये थे। कवि सम्मेलन में भी नहीं आये। पता लगने पर मैं तुरन्त उनके पास गया। संयुक्त मन्त्री जो था। बन्धु के अपराध की क्षमा चाही और प्रार्थना की कि वे सम्मेलन में पधारें। मान लूंगा कि वे दोनों उदार थे। साथ-साथ हम लोग पण्डाल में आये। अपार जनसमूह के बीच होकर जब वे दोनों कवि मंच के पास पहुंचे तो निराला जी ने हाथ जोड़ कर उनका स्वागत किया और चतुर्वेदी जी से कहा, "सर्वप्रथम आप ही कविता पाठ करें।"

चतुर्वेदी जी गद्‌गद् हो उठे। उनका वह सुमधुर कण्ठ और ब्रज भाषा। बहुत देर तक पण्डाल में माधुर्य बरसता रहा। उसके बाद मानव हृदय के पारखी निराला हितैषी जी की ओर मुड़े। लेकिन हितैषी जी को नहीं मानना था, नहीं माने। निराला जी ने फिर निवेदन किया। वह नहीं माने। तीसरी बार चरण छूकर प्रार्थना की, वह फिर भी नहीं माने। हम लोग भय से कांप उठे कि अब निराला जी भभक उठेंगे। लेकिन ज्वालामुखी तो परम शान्त था। शान्त स्वर में वह बोले, "अब आपकी इच्छा है। हम तो तीन बार कह चुके।"

जिस समय वह स्वयं कविता पढ़ने खड़े हुए, जनता ने जोर से करतलध्वनि की और वह ओजस्वी स्वर फूट पड़ा उद्दाम वेग से। 'जुही की कली,' 'जयसिंह के नाम शिवाजी का पत्र', 'राम की शक्ति पूजा', 'कुकुरमुत्ता' और 'वह तोड़ती पत्थर' आदि आदि कविताएं वे एक के बाद एक पढ़ते चले गये। जनता जैसे मूर्तिवत हो रही हो। सर्वप्रथम मुखरित हुआ मधुर मादक शृंगार :

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सोहाग भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल पत्रांक में
बासन्ती निशा थी।

और फिर "राम की शक्ति पूजा" का वह ओजपूर्ण विषाद :

लौटे युग दल। राक्षस—पद तल पृथ्वी तल मल
विन्ध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल।

और यह "कुकुरमुत्ता"। विद्रोह का जीवन्त स्वर :

अबे, सुन बे गुलाब
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपीटलिस्ट
कितनों को बनाया है तूने गुलाम
माली कर रखा सहाया जाड़ा धाम......

और विवशता की मूर्ति :

वह तोड़ती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार :
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

तब सब कुछ स्थिर हो गया, गूंजता रहा केवल एकनाद स्वर। इसी नाद स्वर द्वारा योगीजन ब्रह्म की उपासना करते हैं। तन्मयता ही तो समाधि है और जब मनुष्य आत्म-विभोर होता है तो अन्तर की कलुषता धुलपुछ जाती है। बहुत से कवि वहां उपस्थित थे। उनमें से बहुत सी कविताएं आज २० वर्ष बाद भी याद कर सकता हूं। पर निराला जी तो सबसे निराले थे। अपनी दुर्बलताओं के बावजूद जैसे मन प्राण में बस गये हों।

सम्मेलन के बाद जब वह इलाहाबाद लौट रहे थे तब की एक छोटी सी घटना का स्मरण और आता है। सैकिण्ड क्लास के डिब्बे में जिस स्थान पर वह बैठे वहां पहले कोई युवक बैठा था। आज की तरह तब भी यौवन उद्धत ही होता था। लौटकर उसने बड़ी अशिष्टतापूर्वक निराला जी को उठाना चाहा। वह अपनी मस्ती में बैठे थे। स्थान भी काफी था। युवक

कहीं और बैठ सकता था, लेकिन फिर तो वह वृद्ध हो रहता। अड़ गया, निरालाजी को उठना होगा। कुछ अपशब्द भी कहे और आक्रमण की मुद्रा में आ गया। निराला जी वैसे ही मुस्कराते रहे। फिर हाथ बढ़ा कर उसके गले के पास से कमीज़ पकड़ ली और उसको वहीं स्थिर कर दिया। युवक के क्रोध का पारावार न था, लेकिन सारी शक्ति लगाकर भी वह निराला जी का हाथ हिला तक न सका, जैसे वह अंगद का पैर बन गया हो। निराला जी मुस्कराते रहे, युवक उनके हाथ को नोंचता रहा, कुर्ते को फाड़ता रहा और अपने असहाय क्रोध से स्वयं ही पसीना-पसीना होता रहा। कई क्षण के इस अनोखे द्वन्द्व युद्ध के बाद निराला जी ने उसे छोड़ दिया और बड़े प्यार से कहा, "बैठ जाओ बेटा।"

निराला जी में ओज और संगीत दोनों का अद्भुत सम्मिश्रण था और उनके प्रत्येक कार्य में इन दोनों गुणों की मात्रा घटती-बढ़ती रहती थी। साहित्य सृष्टा की अहमन्यता को सहज कह कर स्वीकार किया जा सकता है। कवि, पागल और प्रेमी ये प्राय: समानधर्मी ही तो हैं। लेकिन मात्रा और सीमा का प्रश्न फिर भी रहता है। निराला में सीमा नहीं थी। थी अन्तर में दबी पड़ी एक दुर्बलता कि मैं जिस योग्य हूं वैसा न तो मेरा सम्मान होता है और न मूल्यांकन। सैंकड़ों वर्ष पूर्व भवभूति के साथ क्या हुआ, यह ठीक नहीं मालूम लेकिन जहां तक निराला का सम्बन्ध है उपचेतना में बसी हुई मानव की शत्रु यह दुर्बलता उस विशाल को निर्बल कर देती थी। कहूंगा उनकी तथाकथित विक्षिप्तता का कारण भी यही था। दुख यही है कि उनके तथाकथित मित्रों और भक्तों ने सदा इस दुर्बलता को सहलाया, उत्तेजित किया और अन्तत: उनको निस्तेज करने में बहुत कुछ सफल भी हो गये।

इस स्वार्थमय संसार में जाने-अनजाने अनेक तेजपुंजों को ऐसे ही मित्र मिले हैं। जो उनके जाल से मुक्त हुआ वह मोती हो गया, शेष योग-भ्रष्ट बोधिसत्व होकर रह गये। निराला इसी श्रेणी के नरपुंगव थे। वह औघड़दानी थे। उन्होंने कभी अपना गर्वोन्नत मस्तक नहीं झुकाया, पर उनके भीतर जो तीव्र निषेध था उसकी नींव इसी दुर्बलता पर थी इसीलिए वह सहज न हो पाए, भीतर ही भीतर टूट गये।



आधुनिक हिन्दी कविता

विष्णुकान्त शास्त्री

आधुनिक शब्द का साधारण अर्थ है आजकल का। प्रश्न उठता है कि इस आजकल की व्याप्ति कितनी है। इसी के साथ जुड़ा हुआ प्रश्न है कि आधुनिक शब्द क्या केवल समय सूचक ही है या भाव और विचार से भी सम्बन्ध रखता है। इन दो प्रश्नों पर विचार किए बिना आगे बढ़ना अपने विषय के साथ अन्याय करना होगा।

जरा सा सोचने पर लगेगा कि आधुनिक शब्द का प्रयोग केवल समकालीन व्यक्ति, वस्तु या विचार आदि के लिए नहीं होता। आधुनिक होने के लिए आवश्यक होता है कि युग की समस्याओं को समझा जाए, उनको सुलझाने के लिए नये ज्ञान-विज्ञान एवं आचार-विचार का उपयोग किया जाये। नये परिवर्तनों, नयी आशा-आकांक्षाओं, नयी चुनौतियों, नये अभावों और नये विश्वासों को प्रतिध्वनित करने वाली कविता ही आधुनिक कविता कही जा सकती है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह नयापन परम्परा को काट कर नहीं आ सकता, उसका विकास कर ही आ सकता है। परम्परा से कटी हुई, उधार ली हुई, ऊपर से थोपी हुई आधुनिकता न प्राणवान होती है. न संस्कृति को समृद्ध करने में सहायक। उसी तरह नवीन परिवर्तनों से बेखबर रहकर जड़ीभूत रूढ़ियों का अनुगमन करने वाली रचनाएं आधुनिक नहीं मानी जा सकतीं। उदाहरण के लिए रीतिकालीन विषयवस्तु और शैली का अनुकरण करने वाली आज की लिखी रचना समसामयिक हो सकती है, आधुनिक नहीं। यह जरूरी नहीं है कि आधुनिक होने के लिए समस्त नवीन परिवर्तनों का समर्थन ही किया जाए, उनके अस्वस्थ पक्ष का खण्डन और परम्परा के युगोपयोगी स्वथ्य पक्ष का मण्डन या उसे युगानुकूल बनाने का प्रयास भी आधुनिकता के अन्तर्गत ही माना जायेगा।

कब तक की रचनाओं को आधुनिक माना जाए ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए

वैचारिक आधार यही हो सकता है कि जो साहित्यिक प्रवृत्तियां आज भी जीवन्त रूप से नवीन रचनाओं में रूप पा रही हैं, उनके उद्भवकाल तक आधुनिकता का विस्तार किया जा सकता है। मोटे तौर पर हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में भारतेन्दु के समय से आधुनिक काल माना जाता है। यह सच है कि भारतेन्दु के साहित्य में व्यक्त प्रवृत्तियां अपने समय के लिए क्रांतिकारी थीं और रीतिकाल से उनका विलगाव बहुत साफ झलकता है, लेकिन आज के सन्दर्भ में वे भी पुरानी पड़ गयी हैं। द्विवेदीयुग और छायावाद-युग की कविता, विशेषतः छायावाद की कविता, हिन्दी-साहित्य की गौरवनिधि है, किन्तु फिर भी यह साफ है कि सृजनात्मकता की दृष्टि से वह आज की कविता के जीवित वर्तमान का अंग नहीं है। इस लेख में छायावादोत्तर हिन्दी कविता को ही आधुनिक हिन्दी कविता के रूप में स्वीकारा गया है। प्रस्तुत लेख न तो इस काल की समस्त कृतियों का परिचायक है, न किसी एक ही काव्य-आन्दोलन का पक्षधर। आधुनिक हिन्दी काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का परिचयात्मक विवेचन ही इसका उद्देश्य है।"

छायावाद की विरासत थी नवीन जीवनदृष्टि की रागात्मक स्वीकृति, भारतीय पुनर्जागरण की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, अतिशय कोमल, भावुक, अशरीरी प्रणय-निवेदन, प्रकृति के प्रति गहरा आत्मनिष्ठ अनुराग, वैयक्तिकता का पोषण, कल्पना का ऐश्वर्य एवं जीवन की स्थूलताओं की तुलना में सूक्ष्मता के प्रति, यथार्थवाद के स्थान पर स्वच्छन्दतावाद, रहस्य-वाद के प्रति आग्रह। इसी के अनुरूप छायावादी काव्य-शिल्प में प्राकृतिक बिम्बों एवं प्रतीकों की प्रधानता, लाक्षणिकता, भाषा की कोमल, मधुर, अलंकृत वक्रता भी थी। देश की तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों ने साहित्य से और अधिक स्पष्टता, यथार्थता, बौद्धिकता और संघर्षशीलता की मांग की। छायावादी कवियों को स्वयं लगने लगा कि बदलते हुए युग में उनकी जीवनदृष्टि और शैली का बदलना आवश्यक हो उठा है। 'कामायनी' के रूप में छायावाद ने १९३६ में अपनी चरम उपलब्धि दी और उसी वर्ष 'युगान्त' के माध्यम से उसने घोषित किया कि उसका युग समाप्त हो चला है। उसी वर्ष भारत में प्रगति-शील लेखक संघ की स्थापना हुई और उसके द्वारा सन् ३० से ही धीरे-धीरे जोर पकड़ते हुए समाजवादी चिन्तन की साहित्यिक अभिव्यक्ति का सुसंगठित आन्दोलन आरम्भ हुआ। काव्य-चेतना ने एक जबर्दस्त मोड़ लिया और अनेक धाराओं में विभक्त हो गयी जिनमें प्रगतिशीलता, वैयक्तिक प्रेमप्रधान स्वच्छन्दवादिता, राष्ट्रीयता, नैतिकता, आध्यात्मिकता, प्रयोगवादिता आदि प्रमुख हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ये धाराएं एक-दूसरे से अछूती अलग-अलग प्रवाहित हो रही हैं; ये एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई कभी-कभी विरोधी-सी लगती हुई होने पर भी एक-दूसरे से आदान-प्रदान करती हुई बढ़ रही हैं। एक ही कवि में विभिन्न तत्व उभरते हैं और बहुत बार रचनाएं केवल आलोचकों के बनाये वर्गीकरण ही नहीं, स्वयं अपने रचयि-ताओं के घोषित सिद्धांतों का भी उल्लंघन करती हैं। जीवन की तरह ही सृजन को खानों (कोष्टकों) में नहीं बांटा जा सकता।

छायावाद को अपदस्थ कर सुसंगठित सम्प्रदाय के रूप में जिस साहित्यिक आन्दोलन ने अपने आपको बलपूर्वक प्रतिष्ठित कर लिया, वह प्रगतिवाद था। मार्क्सवाद को अपना

दार्शनिक आधार मानकर, वर्ग-संघर्ष की भावना को अपना शस्त्र बनाकर, सामाजिक यथार्थ के चित्रण द्वारा साहित्य को सामन्तीय या मध्यवर्गीय दायरे से मुक्त कर उसे शोषित, पीड़ित जीवन के निकट लाने का और उसे परिवर्तित करने का आग्रह इस साहित्यिक आन्दोलन का था। इसने शोषित मानवता की मुक्ति की ऐसी आकर्षक एवं तर्कपूर्ण योजना की ओर संकेत किया कि एकबारगी इसकी ओर पन्त, निराला, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा तथा अन्य प्रतिष्ठित कवि झुक गये, किन्तु ये इस क्षेत्र में टिके नहीं रह सके। जैसे-जैसे यह स्पष्ट होता गया कि यह आन्दोलन वस्तुत: अपने नग्न रूप में कम्यूनिस्ट पार्टी का साहित्यिक मोर्चा है, वैसे-वैसे पुराने कवि इससे अलग होते गये। प्रगतिवादी आन्दोलन ने जिन्हें कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया उनमें नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन प्रमुख हैं। एक समय में सुमन, अंचल, रांगेय राघव आदि भी इससे सम्बद्ध थे। हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य में आलोचना की ही प्रधानता है। रचना के क्षेत्र में कथा-साहित्य में ही उसे उल्लेख-योग्य सफलता प्राप्त हुई। कविता निश्चय ही उसका दुर्बल अंग है। हिन्दी की प्रगतिवादी कविता का शक्तिशाली अंग उसकी प्रखर व्यंग्यात्मकता है, उसने अभी तक ध्वंस अधिक किया है। नागार्जुन की रचनाएं 'प्रेत का बयान', 'भूदान यज्ञ', 'आओ रानी हम ढोएंगे पालकी' इसका प्रमाण हैं। पन्त की 'ग्राम्या' में और केदारनाथ अग्रवाल की 'युग की गंगा' में उसका जो विधायक रूप प्रकट हुआ था, उसे और ऊंचाई पर ले जाने वाली रचनाओं की कमी रही। प्रगतिवादी काव्य ने छायावादी भावुकता लाक्षणिक शिल्प-विधान के स्थान पर सुस्पष्ट सैद्धांतिक मान्यता और दो टूक बात कहने की सपाट शैली पर जोर दिया, जिसके परिणामस्वरूप बहुत बार वह कविता राजनीतिक नारेबाजी-सी लगने लगी। यह सच है कि साहित्य में कथ्य का बहुत महत्व होता है, लेकिन यह अभिव्यंजना-कौशल ही है जो उसे साहित्य का रूप देता है। मुझे खेद है कि प्रगतिवादी कवियों ने इस ओर कम ध्यान दिया है। साहित्य राजनीति का अनुगामी बनकर अपना स्वतन्त्र रूप खोकर मर्यादाहीन हो जाता है। प्रगतिवादी काव्य ने जितनी सम्भावनाओं के साथ हिन्दी में प्रवेश किया था, उतनी सशक्त रचनाएं वह नहीं दे पाया। सांचे ढले विचार में व्यक्ति की स्वतन्त्रता (जो साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य है) नहीं रह पाती, अत: परवर्त्ती वैयक्तिकतावादी कवियों ने प्रगतिवाद के खिलाफ विद्रोह कर दिया और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि आज प्रगतिवादी काव्यधारा हिन्दी की प्रमुख काव्यधारा नहीं है। फिर भी यह सच है कि छायावादी कुहेलिका को दूर कर काव्य को जीवन के अधिक निकट लाने में, समसामयिक बनाने में, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि प्रदान करने में, शोषित-पीड़ित वर्ग के प्रति साहित्यकारों को सचेत करने में प्रगतिवाद की देन महत्वपूर्ण है। मुझे लगता है कि इसके कठमुल्लेपन को दूर कर इसके विधायक रूप को प्रकट करने वाला कोई बड़ा प्रतिभाशाली कवि इसे मिला होता तो काव्य के क्षेत्र में यह धारा गौरवशाली स्थान बना सकती थी।

छायावाद के अवरोह के समय उसकी वैयक्तिकता और भावुकता को अधिक मांसल और लौकिक बनाकर प्रधानत: गीतों के माध्यम से व्यक्त किया बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, अंचल और नरेन्द्र शर्मा ने। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इस वर्ग के कवियों ने भारी भरकम जीवन-दर्शन को अपनाकर उसे काव्य के चौखटे में बैठाने के स्थान पर अपने व्यक्ति-

गत हर्षोल्लास, शोक-दु:ख, अश्रु और मुस्कान को भाषा देने की चेष्टा की। प्रेम इनका मुख्य विषय था। छायावादी प्रेम की अशरीरी भावना के स्थान पर इन्होंने निस्संकोच भाव से नर-नारी के आवेगमय शरीरी प्रेम को अंकित किया। यह कहा जा सकता है कि इसी वर्ग ने समाज की सहमी और नैतिक आंतक से दबी यौन भावना को सहज अभिव्यंजना दी। आरम्भ में इन्होंने भी एक रेशमी आवरण का सहारा लिया था, किन्तु शीघ्र ही अपने को उस दुर्बलता से मुक्त कर लेने में इन्हें सफलता मिली। बच्चन की स्वीकृति हैं :

'कल छिड़ी होगी खतम कल,
प्रेम की मेरी कहानी।'

तथा '**मैं गाता हूं यह प्रेम कहानी मेरी है।**' सिद्धान्तों के घटाटोप की तरह इन्होंने भाषा के आभिजात्य से भी अपने आपको मुक्त रखा। परिणाम यह हुआ कि इन कवियों को अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई। सच कहा जाये तो खड़ी बोली की कविता को सामान्य-जन के लिए रुचिकर और ग्राह्य बनाने में बच्चन और उनके सहयोगियों का बड़ा हाथ है। गीत तो छायावादी कवियों ने भी लिखे थे, किन्तु उनकी अभिजात भाव-सम्पदा और अभिव्यंजना-शैली ने उन्हें साहित्य के समीक्षकों के बीच समादरणीय भले बनाया हो, जनता के कण्ठ से गूंजने का विशेष अवसर नहीं दिया था। बच्चन आदि के कार्य को और आगे बढ़ाने वालों में गोपालसिंह नेपाली, हंसकुमार तिवारी, शंभुनाथ सिंह, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, रामावतार चेतन जैसे कवि हैं, किन्तु पचास-पचपन तक आते-आते गीतकारों की सीमाएं प्रकट होने लगीं। केवल व्यक्तिगत अनुभव के सहारे कोई कवि बहुत आगे नहीं बढ़ सकता। महान् जीवन-दृष्टि जब मस्तिष्क से आगे बढ़ कर हृदय के सहज विश्वास का आधार पाती है और जब वह समर्थ अभिव्यंजना-भंगी द्वारा व्यक्त होती है, तभी श्रेष्ठ कविता का जन्म होता है। गीतकारों की लोकप्रियता उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता और श्रृंखला भी बन गयी। वे जीवन के बड़े सत्यों को उनके अनुरूप परिधान में उपस्थित करने के स्थान पर सस्ती भावुकता को आसान और श्रोता को गुदगुदा देने वाली शब्दावली में व्यक्त करने लगे। इस प्रकार के कवि-सम्मेलनों में तो वाहवाही पाते रहे, किन्तु विचारकों की पूर्ण सहानुभूति न पा सके। लोक-गीतों और लोक धुनों के द्वारा उन्हें ताजगी देने का प्रयास अभिनन्दनीय है, किन्तु अधिकांश क्षेत्रों में देखा गया कि गीतकार प्राय: अपने को दुहरा रहे हैं, सस्ती भावुकता को अपना प्रधान सम्बल बना रहे हैं और जीवन-संघर्ष से कतरा रहे हैं। प्रयोगवादियों ने अपने धुंआ-धार बौद्धिक प्रचार द्वारा गीतों की मर्यादा को खण्ड-खण्ड करने के प्रयास में आंशिक सफलता पायी। यह एक तथ्य है कि कवि-सम्मेलनों और फिल्मों में गीतों का मान ज्यों-ज्यों बढ़ा है, गम्भीर काव्य-रचना में त्यों-त्यों घटा है। हिन्दी के क्षेत्र में आज गीत-रचना प्रथम श्रेणी के के काव्यात्मक प्रयास के रूप में स्वीकृत नहीं हैं। मैं समझता हूं कि गीतों को लगा यह ग्रहण स्थायी नहीं होना चाहिए। यह कथन केवल अंशत: ठीक है कि गीतों में आज के जीवन की जटिल, संकुल अनुभूतियों को नहीं प्रकट किया जा सकता, या आज का शंकित, कुंठित कवि-हृदय अपने आनन्द या शोक की दुरूहता को व्यक्त करने के लिए लय का आधार नहीं ग्रहण करना चाहता, क्योंकि वह अपने जीवन में उखड़ेपन का अनुभव कर रहा है,

वंधी हुई लय का नहीं। किन्तु मेरा विश्वास है कि यह स्थिति स्थायी नहीं हो सकती। लोक-जीवन जव-जव आस्था और विश्वास का सम्बल प्राप्त करेगा, या प्रेम की गम्भीर किन्तु सहज वेदना का अनुभव करेगा, तब-तव वह गीतों में अपने को अभिव्यक्त करेगा ही।

देश की दुरावस्था को वदलने के संकल्प से हिन्दी में जिस राष्ट्रीय काव्यधारा का प्रवर्त्तन भारतेन्दु ने किया था, उसे राष्ट्रव्यापी स्वाधीनता आन्दोलनों से और भी प्रेरणा मिली। मैथिलीशरण गुप्त, एक भारतीय आत्मा, माधव शुक्ल आदि घोषित राष्ट्रीयतावादी कवियों की कृतियों में ही नहीं, छायावादी कवियों की रचनाओं में भी उसे गौरवपूर्ण स्थान मिला। छायावादोत्तर काल में दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्याम नारायण पाण्डेय जैसे कवियों ने इसे और अग्रसर किया। वस्तुत: आरम्भ में प्रगतिवादी काव्य को भी इस धारा से बहुत पोषण प्राप्त हुआ था, किन्तु जैसे-जैसे उसका सोवियत अनुगामी अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रकट होता गया, वैसे-वैसे इस धारा ने अपने को उससे पृथक कर लिया। स्वतन्त्रता के वाद महात्मा गांधी की शोचनीय हत्या एवं चीन के आक्रमण के समय इस धारा में उवाल आया था। वस्तुत: इन दोनों घटनाओं पर देश के सभी श्रेष्ठ कवियों ने अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं जिससे यह ज्ञात होता है कि राष्ट्रीयता के प्रश्न पर ऊपरी भेदों का लोप होता रहा है। वैसे यह सच है कि स्वतन्त्रता के वाद जिस प्रकार राष्ट्रीयता भारत के जन-जीवन में ह्रासोन्मुखी है, उसी प्रकार काव्य में भी। एक छोटा सा प्रमाण यह है कि चीनी आक्रमण के समय लिखी गई सैंकड़ों कविताओं में एक भी ऐसी नहीं उभरी कि जिसे हम राष्ट्रीय युद्धगीत के रूप में स्वीकार कर सकते। सम्भवत: दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' ही इस साहित्य में अधिक स्थायित्व प्राप्त कर सकेगी।

छायावाद का अंगीभूत रहस्यवाद भारतीय जन-जीवन से अपना सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाया था, अत: उसे जाना पड़ा। छायावादोत्तर काल में पुराने कवियों ने पुन: एक बार आध्यात्मिकता की ज्योति जगायी। इनमें निराला ने तो सीधे-सीधे अर्चना और आराधना में भक्ति-भावना को व्यंजित किया। पन्त, नरेन्द्र शर्मा तथा कुछ अन्य कवियों ने अरविन्दवादी दर्शन का सहारा लिया। पन्तजी का तो प्रगतिवादोत्तर साहित्य मुख्यत: अरविन्द से ही अनुप्राणित रहा है। नीरज ने भी अरविन्द की कुछ कविताओं के अनुवाद किये। 'मनुज पराजय के प्रतीक हैं मठ मसजिद गिरजाघर' लिखने वाले बच्चन ने भी 'जन-गीता' प्रस्तुत की, कुछ भक्तिमूलक गीत भी लिखे। नवीन ने भी 'क्वासि' की टेर लगायी किन्तु ये प्रयास कविता की प्रधान धारा नहीं बन सके। इन अधिकांशत: बौद्धिकता प्रधान आध्यात्मिक रचनाओं को जनता का स्नेह भी विशेष नहीं मिला, क्योंकि ये उन्हें दृष्टि में रखकर लिखी ही नहीं गयी थीं। मेरा विचार है कि बच्चन यदि 'जन-गीता' अवधी भाषा और दोहा चौपाई में न लिख कर खड़ी बोली और रुबाई छन्द में लिखते, तो सम्भवत: उनका श्रम अधिक सार्थक होता। भारत जैसे धर्मप्रधान देश में आधुनिक हिन्दी कवियों की आध्यत्मिक रचनाएँ केवल पुस्तकालयों की शोभा बढ़ायें, यह क्षोभ की वात है। साधारण जनता अपने अभाव की पूर्ति अच्छे कवियों द्वारा न होते देख कर अन्य प्रचलित माध्यमों का

सहारा ले रही है। यह सचमुच लज्जा का विषय है कि जनता की इस भूख को मिटाने के लिए तीसरी श्रेणी के तुक्कड़, फिल्मी गानों के आधार पर आधुनिक भजनों की सृष्टि कर रहे हैं, और वे ही भजन, फिल्मी लयों में ही कथा-कीर्त्तनों के अवसर पर गाये जाते हैं, और हमारे मान्य कवि ऐसी भाषा और शैली में अपनी कृतियां प्रस्तुत करते हैं जिनको साधारण जनता समझ नहीं पाती।

कामायनी की सफलता से अनुप्रेरित होकर आधुनिक हिन्दी कविता में कई प्रबन्धकाव्य भी रचे गए हैं। पुरानी पीढ़ी के कवि तो अपनी शैली का निर्वाह या विकास करते रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त की 'विष्णुप्रिया' या 'जय भारत' आदि, सियारामशरण गुप्त की 'गोपिका', बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेतसन्त' तथा कुछ अन्य कवियों की कुछ और रचनायें पुरानी परम्परा की ही हैं। दिनकर ने कुरुक्षेत्र में युद्ध के प्रश्न को सामने रख कर प्रबन्धकाव्य लेखन में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया। कुरूक्षेत्र में कथा, चरित्र-चित्रण वर्णन आदि परम्परागत प्रबन्धकाव्य के तत्वों को प्रधानता नहीं मिली, केवल युद्ध की अनिवार्यता के पक्ष में बुद्धि का शंकालु हृदय के साथ विवाद दिखाया गया है। 'रश्मिरथी' में कर्म की मुख्यता को कुलीनता आदि कृत्रिम मूल्यों के ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है। 'उर्वशी' दिनकर की सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध रचना है, जिसमें नर-नारी के प्रबल आकर्षणजन्य प्रेम को देह के धरातल से आरम्भ कर आत्मा के स्तर तक ले जाने की चेष्टा की गयी है। फिर भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उर्वशी अपने विवादास्पद कामाध्यात्म को ले कर कामायनी की स्पर्धा नहीं कर सकती। पन्तजी का 'लोकायतन' इस दिशा में नवीनतम उपलब्धि है, जिसमें सम्पूर्ण लोक-जीवन को आकलित करने का प्रयास किया गया है, पर कामायनी का स्थान यह काव्य भी नहीं ले सकता। मुझे यह भी लगता है कि इन बड़े प्रयासों के बावजूद आज का युग प्रबन्ध काव्यों के अनुकूल नहीं है। उपन्यास ने प्रबन्ध काव्य की जगह छीन ली है। यह सच है कि मानव जीवन की गहराइयों का सांकेतिक उदघाटन जितने लचीलेपन के साथ कविता में हो सकता है, उतनी सूक्ष्म संवेदना साधारणतः गद्य में मुश्किल से आ पाती है किन्तु इसका समाधान उपयुक्त स्थलों पर उपन्यास की गद्य शैली को कविता के निकट लाना है, वृहदाकार प्रबन्ध काव्य की रचना करना नहीं। ये प्रबन्ध काव्य थोड़े से काव्य विशेषज्ञों की बौद्धिक और भावात्मक परितृप्ति भले कर लें, जनता की शक्ति नहीं बन सकते।

आधुनिक हिन्दी कविता की विशेष मान्यता प्राप्त काव्य धारा प्रयोगवाद या नयी-कविता है। वास्तव में इस धारा का आरम्भ प्रगतिवादी परिवेश में ही हुआ था। शुरू-शुरू में अज्ञेय, शमशेरबहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल आदि प्रगतिशील खेमे के ही मानें जाते थे। १९४३ में अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' प्रकाशित हुआ। उसी की भूमिका में बार-बार 'प्रयोग', 'राहों के 'अन्वेषी', 'प्रयोगशील' जैसे शब्दों के व्यवहार के कारण इस काव्य धारा को 'प्रयोगवाद' नाम प्राप्त हुआ, जिसे दूसरे सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने यह कर अस्वीकारा कि प्रयोग कविता का सहज धर्म है, उसका कोई वाद नहीं होता, प्रयोगवादी कहना कवितावादी कहने के समान ही कोई अर्थ नहीं रखता। बाद में इस धारा को नयी कविता कहा गया ताकि इसे एक तरफ साम्प्रदायिकता की गन्ध से मुक्ति मिले,

दूसरी तरफ आधुनिक हिन्दी कविता के नवीनतम रूप के प्रतिनिधित्व का गौरव। प्रयोगवाद या नयी कविता को अपनी प्रतिष्ठा के लिए द्विमुखी संघर्ष करना पड़ा। एक तरफ तो छायावादी (जो तब तक परम्परावादी बन चुके थे।) समीक्षक थे और दूसरी तरफ प्रगतिवादी समीक्षक और कवि। परम्परावादियों का अभियोग था कि यह काव्यधारा टी० एस० ईलियट, डी०एच० लारेंस आदि की कविताओं तथा सोत्रें आदि के अनास्थावादी दर्शन का अन्धानुगमन है, अत: अभारतीय है, काव्य के स्थापित सिद्धान्तों यथा रसवाद के विरुद्ध है आदि आदि। प्रगतिवादियों का आरोप था कि यह प्रगतिशील आन्दोलन को गुमराह करने के लिए पूँजीवादी क्षयिष्णु संस्कृति के समर्थकों का षड़यन्त्र है, निरा रूपवाद है, आस्थाहीन व्यक्तिवादियों का लक्ष्यहीन विद्रोह है आदि आदि। किन्तु नयी-कविता के पीछे अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, रघुवंश जैसे श्रेष्ठ कवि और विचारक थे, अत: सारे आघातों को झेल कर उन्होंने अपने को प्रतिष्ठित कर लिया।

इन नये कवियों की मान्यता है कि व्यक्ति समाज पर आश्रित हो कर भी अपना स्वतन्त्र सत्ता रखता है, जैसे नदी का द्वीप। निश्चय ही नदी द्वीप को आकार देती है किन्तु द्वीप धारा नहीं है यदि बनना चाहे गा तो धारा को गंदला ही बनाएगा। फिर यह भी कि व्यक्ति मानव ही समस्त मूल्यों का उदगम है, उसके थके हुए अपराजेय चरण ही उसे शरण दे सकते हैं। बंजर होते हुए समाज में व्यापत कुंठा, अनास्था, घुटन और टूटन को ईमानदारी से व्यक्त करना, विश्व में विज्ञान के विकास के कारण उत्पन्न पूर्वधारणाओं के मोहभंग की तीखी पीड़ा को झेलना और सांचे ढले समाज द्वारा व्यक्ति को ग्रस लिए जाने के संकट का विरोध करना उसका स्वाभाविक कार्य है। काव्य के रूप के प्रति...शिल्प के प्रति अत्यधिक सचेत रह अपनी अभिव्यक्ति केलिए उपयुक्त शैली और भाषा का चुनाव करने केलिए वह दृढ़ प्रतिज्ञ है। उसकी प्रतिबद्धता (कमिटमेंट) किसी बाह्य ईश्वर, सिद्धांत या दल के प्रति न हो कर अपनी ईमानदारी के प्रति है।

मैं इस अतिशय व्यक्तिवादी, अनास्थावादी काव्य-धारा को मूलत: अशिव मानते हुए भी यह स्वीकार करता हूं कि पश्चिमी संस्कृति के विघटन और तृतीय विश्व युद्ध के फलस्वरूप सर्वनाश की आशंकापूर्ण तनाव से भरी परिस्थिति के कारण ऐसी प्रवृत्ति के पनपने का आधार अवश्य है। यह ठीक है कि अपने देश का समष्टि मन उस गहरे संकट की छाया से अभी तक आक्रान्त नहीं हुआ है किन्तु स्वतन्त्रता के बाद जिस तेजी से हमारा नैतिक पतन हुआ है उसके परिणाम स्वरूप निराशा और अनास्था बढ़ती जा रही है। यह भी मानना चाहिए कि नयी-कविता ने प्रगतिवाद की तुलना में अधिक अच्छे कवि दिये हैं। यह सच है कि नयी-कविता के नाम पर बहुत कुछ काव्याभास भी रचा गया है और निश्चय ही वह अंश किसी सम्प्रदाय या गुट की छाप पा जाने के कारण ही नहीं जी सकता किन्तु यह भी सच है कि नयी-कविता में पर्याप्त मात्रा में ऐसी रचनाएं भी हैं जो निश्चय ही अच्छी कविता भी हैं और नयी भी ! हां, यह जरूर है कि वह पाठक से मांग करती है कि उसको समझने केलिए और सराहने केलिए वह भी नया संस्कार प्राप्त करे।

मुझे यह भी लगता है कि मठाधीशों के वक्तव्यों से जितना विरोध और बिलगाव

प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविताओं में लगता है, वह वस्तुत: सिद्धान्तों में है कृतियों में नहीं। आपको दोनों खेमों के कवियों की ऐसी बहुत सी रचनायें मिल जायेंगी जिनके कवि का नाम जान कर ही भेदवादी आलोचक उन्हें किसी साम्प्रदायिक कठघरे में बन्द कर सकता है। व्यक्तिवाद और वर्गवाद के दो छोरों के बीच की भी भूमि काफी विस्तृत है और उस पर बहुत से कवि चल रहे हैं।

मेरी यह भी धारणा है कि विश्वकाव्य के निकट आने की दौड़ में हमारा नया कवि तो आगे बढ़ आया है किन्तु सामान्य काव्य रसिक पीछे छूट गया है। नये कवियों का यह दावा मुझे बहुत संगत नहीं लगता कि पाठक ही उन तक आकर उन्हें समझने की चेष्टा करें। अपने आधार से . . . सामान्य काव्य रसिक से सम्बन्ध न जोड़ पाने के कारण ही नयी कविता अभी तक वास्तविक शक्ति नहीं संचित कर सकी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु की देन का मूल्यांकन करते हुए लिखा था कि उनके समय सामान्य शिक्षित समाज आगे बढ़ चुका था और हिन्दी काव्य पीछे छूट गया था, भारतेन्दु ने सेतु बन कर उस विच्छेद को दूर कर दिया था। आज स्थिति उलट गयी है, काव्य आधुनिकता . . . नवीनता की झोंक में आगे बढ़ गया है, और साधारण समाज बहुत पीछे छूट गया है। द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी कविता का हर कदम उसे अपने देश की सामान्य जनता से दूर करता गया है। प्रगतिवाद में ऊपरी दृष्टि से लगता है कि वह लोक जीवन के साथ है किन्तु अपनी समस्त जनवादी घोषणाओं के बावजूद भारतीय जनता के मूल भूत विश्वासों के विपरीत होने के कारण यह काव्य भारत के जन-मानस को न तो स्पन्दित कर पाया न लोक कण्ठ में गूँज ही सका। नयी कविता का तो इधर ध्यान ही नहीं है।

मैं तो उस कवि या काव्य-आन्दोलन की प्रतीक्षा कर रहा हूं जो नवीन काव्य और सामान्य काव्य-रसिक के बीच की इस बढ़ती हुई खाई को पाटने में समर्थ होगा, जो नया भी होगा और लोक मानस से सम्पृक्त भी! मेरा विश्वास है कि तुलसी और सूर की भाषा ऐसा कवि अवश्य देगी और शीघ्र देगी।



"बीस वर्ष पहले 'तार सप्तक' में अपने वक्तव्य के रूप में जो कुछ मैंने लिखा था उसमें से कुछ भी वापस लेना आवश्यक नहीं जान पड़ता। नि:सन्देह बहुत-सी बातों को आज दूसरे ढंग से कहना चाहूंगा उनका महत्व अपेक्षया कम है।

......बात असल में यह है कि उस वक्तव्य में मैंने जो प्रश्न उठाया था वह एक प्रकार से काव्य का चिरन्तन प्रश्न है। इसीलिए उसे न अभी बदलने की आवश्यकता पड़ती है न वापस लेने की। युग-सम्पृक्त उत्तर बदलते रहते हैं और उत्तरों के अनुरूप हम प्रश्न को भी नये-नये ढंग से कहते हैं; लेकिन वास्तव में प्रश्न बदलता नहीं।" —अज्ञेय

बातें घर की

डा० शम्भुनाथ सिंह

छोड़ो बातें दुनिया भर की,
आओ कुछ बात करें घर की।

गमलों को धूप से हटा दो
बुझी हुई अंगीठी जला दो,
गर्द झाड़ दो इन परदों की
बिस्तर की सिलवटें मिटा दो।

लहरों में डूब दोपहर की—
आओ, कुछ बात करें घर की !

बाहर ये कितनी आवाजें
शोर - शरावे गाजे - बाजे।
क्षण भर कुछ अपनी कह-सुन लें
बन्द करो खिड़की दरवाजे।

छोड़ो बातें इधर-उधर की,
आओ, कुछ बात करें घर की !

सड़कों की ये दुर्घटनायें
कमरों के भीतर मत आयें
घर के अन्दर भी खतरे हैं,
देख कर चलो दायें-बायें ।

बिगड़ी हैं हवायें शहर की ।
आओ, कुछ बात करें घर की ।

मौसम की ठंड से न कांपें,
भीतर की गरमाहट तापें,
देहरी से आंगन तक चल कर
अनजाने क्षितिजों को नापें ।

ओ मेरी धूप दिसम्बर की—
आओ, कुछ बात करें घर की ॥

—

उर्दू शायरी का संक्षिप्त इतिवृत

प्रकाश पण्डित

हिन्दी काव्य की तरह उर्दू शायरी का नवीन काल भी १८५७ ई० के स्वतंत्रता-संग्राम के बाद शुरू होता है। इस से पूर्व की दो सौ वर्षीय उर्दू शायरी (अपवादों को छोड़ कर) बादशाहों के कसीदों (प्रशंसा-काव्य) सूफ़ियाना और इश्क़िया ग़ज़लों तक ही सीमित थी। मानसिक विलास-प्रियता, नैराश्य, पलायन, व्यक्तिवाद, आध्यात्मिकता, अवसन्नता इत्यादि प्रवृत्तियों को विभिन्न 'रदीफ़ों' और 'काफ़ियों' में व्यक्त करने और शाब्दिक बाज़ीगरी दिखाने को ही (जिसे 'नाज़ुक ख्याली' कहा जाता था) शायरी की पराकाष्ठा माना जाता था। ऐसा होना एक प्रकार से अनिवार्य भी था क्योंकि जब तक शान्त तथा स्थिर सामाजिक जीवन में भौतिक तथा चिन्तात्मक परिवर्तन उत्पन्न न हों साहित्य केलिए भी, जो जीवन का प्रतिरूप है, नये मार्ग नहीं खुलते। ऐसे परिवर्तन केलिए किसी बड़ी सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्ति की आवश्यकता होती है जो १८५७ ई० से पूर्व भारत के दीर्घ जागीरदारी या सामन्तशाही-काल में कहीं नज़र नहीं आती। परिस्थितियों में परिवर्तन अवश्य हुए। राज्य बदलते रहे, ख़ून की नदियाँ भी बहीं किन्तु इन समस्त घटनाओं का सामूहिक सामाजिक जीवन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वह जहां था वहीं रहा। ऐसी स्थिति में, जब कि देश का सामाजिक जीवन शताब्दियों तक एक विशेष वातावरण में सीमित और एक विशेष डगर पर चुपचाप चलता रहा हो, साहित्य तथा काव्य में अपेक्षित उत्थान की तलाश व्यर्थ होगी। प्राचीन उर्दू शायरों को यदि माशूक़ की नागन रूपी ज़ुल्फ़ों से डसे जाने और सीने पर नज़रों के तीर खा-खा कर हाय-तौबा मचाने से फ़ुर्सत न मिली तो इस में उन का उतना दोष नहीं जितना उस काल की व्यवस्था का था। वह व्यवस्था ही ऐसी थी जो शायर को जीवन की मूल समस्याओं के

प्रति विमुख हो कर 'मय-ो-मीना' में डूबने, मस्त-अलस्त रहने या अधिक से अधिक 'ख़ुदा से लौ लगाने' की प्रेरणा देती थी अतएव जो शायर राजदरबारों की हाज़िरी में थे वे :

गर यार मय पिलाये तो फिर क्यों न पीजिये
ज़ाहिद नहीं मैं, शैख नहीं, कुछ वली नहीं

——इन्शा

की रट लगाते रहे और जिनकी रसाई दरबारों तक न हो सकी, आर्थिक दरिद्रता ने उन्हें निराशावादी बना दिया और जीवन उन केलिए 'रात को रो-रो सुबह करने' और दिन को 'ज्यों-त्यों शाम करने' का नाम रह गया और यह सिलसिला इतनी दूर चला, इतना शक्तिशाली हो गया कि अठारहवीं सदी के मध्य में जब 'नज़ीर' अकबराबादी ने शायरी की इन प्राचीन परम्पराओं के विरुद्ध व्यक्तिगत विद्रोह किया। शायरी को नवाबों की विलासतापूर्ण महफिलों और नींद की पेंग में डूबे शायरों की पकड़ से निकाल कर बीच चौराहे में खड़ा करने का प्रयत्न किया और :

टुक हिर्सो-हवा[1] को छोड़ मियाँ,
मत देस बिदेस फिरे मारा,
क़ज़्ज़ाक़[2] अजल[3] का लूटे है,
दिन रात बजा कर नक़्क़ारा
क्या बधिया, भैंसा, बैल, शुतर,
क्या गउएं पल्ला सर भारा
क्या गेहूं, चावल, मोठ, मटर,
क्या आग, धुआं और अंगारा
सब ठाठ पड़ा रह जाएगा जब
जब लाद चले गा बंजारा !

ऐसे शे'र कह कर मनुष्य और उस की सामाजिकता को काव्य विषय बनाया तो लकीर के फ़क़ीरों ने उन्हें बाज़ारु और घटिया शायर कह कर नज़र-अन्दाज़ कर दिया—यहां तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब 'ग़ालिब' ने ग़ज़ल के तंग दामन को फैलाने और उसमें दार्शनिकता समोने की कोशिश की तो उन्हीं महानुभावों ने उन पर मोहमलगो (अर्थहीन शे'र कहने वाला) का आरोप लगाया और चौथाई सदी बाद तक—

रुखे-रौशन के आगे शमअ रख कर वो ये कहते हैं
उधर जाता है देखें या इधर परवाना आता है

ऐसे काव्य को ही महान काव्य का दर्जा देते रहे।

१८५७ ई० के असफल स्वतंत्रता-संग्राम या क्रान्ति के बाद भारत की राजनीति में असाधारण और मौलिक परिवर्तन हुए। शताब्दियों की जागीरदारी व्यवस्था पतनशील हुई और उसके स्थान पर पश्चिम से आयी औद्योगिक तथा व्यापारिक व्यवस्था उत्तरोत्तर बढ़ने

१-लोलुपता २-डाकू ३-मृत्यु

लगी। सामान्य राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तनों से सामाजिक जीवन तथा मानव विचारों में भी परिवर्तन होने लगे। जीवन की जर्जर परम्पराओं पर कुठाराघात हुआ, नये ढंग से वर्गीकरण हुआ और मध्यम-वर्गीय लोगों ने पश्चिमी विद्या-विज्ञान को अपनाना शुरू किया। प्रत्यक्ष है कि इस सार्वभौम परिवर्तन का प्रभाव साहित्य पर होना भी अनिवार्य था। इसी सामाजिक परिवर्तन ने कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी जन्म दिया जो चैतन्य रूप से साहित्य तथा काव्य को बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ चलाना चाहते थे। उर्दू के जिन महान लेखकों और शायरों ने उस समय परिवर्तनशील परिस्थितियों को अंगीकार किया और विकासोन्मुख जीवन का साथ दिया उन में सर सय्यद, हाली, आज़ाद और शिबली के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १८६७ ई० में 'आज़ाद' ने सर्व प्रथम उर्दू शायरी को 'नज़्म' नामक काव्य-रूप से परिचित कराया और लाहौर में कर्नल हालरायड (डायरेक्टर शिक्षा विभाग, पंजाब) की सहायता से ऐसे मुशायरों की नींव रखी जिन में शायर को ग़ज़ल का 'मिसरा तरह' देने की बजाय नज़्म केलिए कोई उपयोगी विषय दिया जाता था। स्वयं 'आज़ाद' ने प्राकृतिक दृश्यों पर बहुत सी नज़्में लिखीं। उन के सम्मुख दो मौलिक सिद्धान्त थे। एक तो काव्य विषय का अनुक्रम और दूसरे 'हुस्न-ो-इश्क़' की तंग गली से निकल कर अन्य सांसारिक विषयों का प्रयोग। लेकिन 'आज़ाद' का काम अधूरा रहता यदि इस आन्दोलन का नेतृत्व 'हाली' अपने हाथ में न लेते। 'हाली' साहित्य द्वारा एक उद्देश्य सिद्ध करना चाहते थे और निःसन्देह उन्होंने इस से बहुत महत्वपूर्ण वल्कि महान उद्देश्य सिद्ध किया। 'मुसद्दस' जैसी कल्याणकारी नज़्म लिख कर उन्होंने प्राचीन शायरी के कलेवर को ही नहीं उस की आत्मा को भी बदल डाला और फिर 'मुक़दमा शेर-ो-शायरी' जैसा महान आलोचनात्मक ग्रन्थ लिख कर रही-सही कसर पूरी कर दी। शायरी को दैवीय प्रेरणा और शायर को अलौकिक प्राणी मानकर प्रसन्न तथा सन्तुष्ट हो रहने वाले लोगों को पहली बार ऐसी तर्कपूर्ण बातों से चौंकाया कि :

> **"क़ायदा है कि जिस क़दर सोसाइटी के ख़्यालात, उसकी रायें, उसकी आदतें उस की रग़बतें (रुचियां) उसका मेलान (प्रवृति) और मज़ाक़ बदलता हैं, उसी क़दर शे'र की हालत बदलती रहती और यह तब्दीली बिलकुल बेमालूम होती है, क्योंकि सोसाइटी की हालत देख कर शायर क़सदन (संकल्प करके) अपना रंग नहीं बदलता बल्कि सोसाइटी के साथ-साथ वह ख़ुद भी बदलता है।"**
>
> **(मुक़दमा शे'र-ो-शायरी)**

अधिक विस्तार में न जाकर 'हाली' के काम को समझने केलिए यह कह देना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी काव्य को रीतिकाल की दलदल से निकाल कर उपयोगिता तथा राष्ट्रवाद की राह पर लगाया था, उसी प्रकार 'हाली' ने उर्दू की कृत्रिम इश्क़िया शायरी की चूलें हिला दीं और न केवल अपने काल के शायरों और साहित्यकारों का बल्कि आने वाली पीढ़ी का भी पथप्रदर्शन किया।

हाली के बाद उर्दू साहित्य में एक अंतरिम काल आता है जिस में पश्चिमी साहित्य से जानकारी बढ़ी, पश्चिम का काव्य-साहित्य चूंकि अपने जागीरदारी काल की मंज़िलों से गुज़र कर बहुत आगे निकल चुका था इसलिए उस से प्रभावित होने वाले उर्दू शायरों ने विषय-

वस्तु के क्षेत्र को विस्तृत करने के साथ-साथ कलात्मक परिपक्वता भी प्रदान की। इस प्रसंग में अज़मत उल्ला ख़ां का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने उर्दू शायरी में नये छन्दों की आवश्यकता, अंग्रेज़ी काव्य रूपों के प्रसार, भाषा में हिन्दी शब्दों तथा प्रयोगों के समावेश से समृद्धि पैदा करने और विचार और भावों के नैसर्गिक प्रकटीकरण पर ज़ोर दिया तथा उर्दू शायरी में पहली बार ग़ज़ल के कल्पित 'माशूक़' को हाड़मांस प्रदान करके उस केलिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया[1]। (इस से पूर्व माशूक़ केलिए पुल्लिङ्ग इस्तेमाल होता था जिसे प्रत्यक्ष रूप से फ़ारसी से लिया गया था) लेकिन अजमत उल्ला की शायरी केवल रोमांटिक यथार्थवाद (जो अपने आप में बहुत बड़ा कारनामा था) सीमित रही। सामूहिक रूप से आधुनिक उर्दू शायरी को पाताल से निकाल कर आकाश तक पहुंचाने का श्रेय 'इक़बाल' के सिर है।

'इक़बाल' के साथ-साथ या कुछ पहले 'अकबर' इलाहाबादी, 'चकबस्त', 'हसरत' मोहानी, 'सरवर' जहांबादी, 'इस्माईल' मेरठी इत्यादि अपने समय के प्रमुख शायरों ने साहित्य और समाज तथा साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध को काफ़ी सुदृढ़ किया लेकिन उनमें से अधिकांश की नज़्में राजनीतिक नारों से आगे न बढ़ सकीं। 'इक़बाल' की शायरी का प्रारम्भ भी यद्यपि राजनीतिक नज़्मों से हुआ किन्तु अपने समकालीन शायरों की निस्बत उनका राजनीतिक बोध काफ़ी आगे था। उन्होंने भारतीय राजनीति के लगभग समस्त पहलुओं को अपनी शायरी में स्थान दिया—लेकिन प्रर्याप्ति चिन्तन के बाद। इसी विशेषता ने उन में गहराई पैदा की और वह न केवल अपने युग के महान शायर बने अपितु एक दार्शनिक भी। उन्हों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के गीत गाये, देश की मिट्टी का कण-कण उन्हें देवता नज़र आया। देश में एक 'नये शिवाले' की नींव रखने के उन्होंने मन्सूबे बांधे, भारतवासियों की मौलिक समस्याओं पर गहरी दृष्टि डाली और श्रम-जीवियों को जागरूक होने का संदेश दिया। १९१७ ई० में जब रूस में महान क्रान्ति हुई और संसार के छठे भाग में श्रमिक वर्ग ने साम्राज्य और पूंजीवाद का तख़्ता उलट दिया तो 'इक़बाल' ने इसे 'वतने-गेती' (जगत की कोख) से 'आफ़ताबे ताज़ा' (नया सूर्य-नवप्रभात) का नाम दिया और इस के साथ ही उस रोमांटिक क्रान्तिवाद की परिपाटी पड़ी जो 'जोश' मलीहाबादी के हाथों निखरती-संवरती आधुनिक काल के प्रगतिशील शायरों की सम्पत्ति और काव्य-विषय बनी। 'हाली' और इक़बाल के बिना आधुनिक उर्दू शायरी को आज की मंज़िल पर पहुंचाने के लिए शायद काफ़ी प्रतीक्षा करनी पड़ती।

१८५७ ई० के बाद आधुनिक उर्दू शायरी देश तथा मानव-प्रेम और साम्राज्य विरोध की मंज़िलें तय करती हुई जब प्रथम महायुद्ध के बाद नये क्रान्तिकारी मोड़ पर पहुंची तो एक बार पुन: उस में गतिरोध उत्पन्न हुआ। नई राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियां शायरों से कुछ ऐसी मांगें करने लगीं जिन्हें स्वयं 'इक़बाल' भी पूरा न कर सके (और उन्होंने इस्लामी दुनियां में जा शरण ली।) देश में स्वतंत्रता का आन्दोलन इतना प्रबल हो गया और

---

१. इस प्रसंग में आगे चल कर 'अख़्तर' शीरानी ने उर्दू शायरी के माशूक़ पर 'सलमा' 'अज़रा' आदि स्त्री-नामों की अमिट मुहर लगा दी।

किसानों और मज़दूरों के संगठन और विद्रोह के भय से साम्राज्यवादी अत्याचार इतना बढ़ गया कि राजनीतिक नेताओं की भान्ति लेखक तथा कवि भी इस असमजंस में पड़ गये कि आगे बढ़ें या वहीं रुक जायें—ऐसे नाज़ुक, महत्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक मोड़ पर कथा-साहित्य में प्रेमचन्द और काव्य-साहित्य में 'जोश' मलीहाबादी उर्दू साहित्य के नेतृत्व केलिए आगे बढ़े। प्रेमचन्द ने साहित्य में यथार्थवाद की नींव डाली और जोश ने रोमांसवाद को आगे बढ़ाया और अपनी 'एजीटेशनल' नज़्मों द्वारा अंग्रेज़ी शासन और उसके अन्याय तथा अत्याचारों पर आक्रमण किये। स्वतंत्रता संग्राम में मर-मिटने केलिए नौजवानों को ललकारा। हर प्रकार की राजनीतिक समझोते-बाज़ी पर लानतें भेजीं और साम्यवाद के उगते सूरज की ओर ऐसा स्पष्ट संकेत किया कि उन के बाद आने वाला प्रत्येक प्रगतिशील शायर उस सूरज के प्रकाश में नहा गया। इन्हीं दो महान साहित्यकारों के नेतृत्व में लेखक और शायर एक दल का रूप धारण कर गये और इस दल ने १९३५ ई० में प्रगतिशील लेखक संघ की बुनियाद डाली।

प्रगतिशील लेखक संघ की बुनियाद डालने वाले और उसके प्रथम घोषणा पत्र प्रस्तावक सैयद सज्जाद ज़हीर, डा० मुल्कराज आनन्द आदि ऐसे तरुण परन्तु पूर्ण रूप से शिक्षित साहित्यकार थे जिन्होंने अपने प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य के साथ-साथ पश्चिमी साहित्य और उस की धाराओं का भी-गहरा अध्ययन किया था। 'साहित्य को जीवन का प्रतीक' बनाने के साथ-साथ वे उसे भविष्य के निर्माण का प्रभावशाली साधन भी बनाना चाहते थे और चाहते थे कि ''भारत का नया साहित्य हमारे जीवन की मौलिक समस्याओं को अपना विषय बनाये—ये भूख, निर्धनता, सामाजिक विषमता तथा परतन्त्रता की समस्यायें हैं''।

यह आवाज़ इतनी प्रभावशाली और सक्रिय थी कि न केवल तरुण शायर और लेखक इस से प्रभावित हुए बल्कि उस समय के श्रेष्ठ साहित्यकारों ने भी इस का स्वागत किया। उर्दू काव्य-साहित्य को उस समय तक 'आज़ाद', 'हाली', 'शिबली', 'इकबाल' और 'जोश' जो चिन्तनशीलता प्रदान कर चुके थे, नयी पौध के शायरों ने उसे और भी विशाल किया और आज जब हम १९३५ ई० के बाद की उर्दू शायरी का अवलोकन करते हैं तो इस की असाधारण प्रगति पर आश्चर्य किये बिना नहीं रह सकते। आज की उर्दू शायरी को किसी कोण से देख लीजिये, वह संसार की उन्नत से उन्नत भाषा के काव्य-साहित्य के कंधे से कंधा भिड़ा सकती है।

इस दिशा में आधुनिक काल के जिन प्रतिभाशाली शायरों ने उर्दू शायरी को अपने ख़ूने-जिगर से सींचा उनमें सर्वश्री 'फ़िराक' गोरखपुरी, स्वर्गीय 'जिगर' मुरादाबादी, फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़', स्वर्गीय असरारुलहक़ 'मजाज़', 'जज़्बी', सरदार जाफरी, 'हफीज़' जालंधरी, स्वर्गीय 'अख़्तर' शीरानी, 'साहिर' लुधियानवी, 'क़तील' शिफाई, न० म० 'राशिद', 'मख़्दूम' मुहीउद्दीन' 'शकील' बदायूनी, 'मजरूह' सुलतानपुरी, 'अदम', जां निसार 'अख़्तर', अहमद नदीम क़ासमी, अख़्तर-उल-इमान, 'ज़हीर' कश्मीरी, यूसुफ 'ज़फर', क़मूम 'नज़र' इत्यादि सैकड़ों शायरों का क़ाफिला है जो निर्धारित मंज़िलों और स्थापित मील-स्तंभों को पीछे छोड़ता हुआ आगे और आगे बढ़ता चला जा रहा है। क्योंकि :

सितारों से आगे जहां और भी हैं।
अभी इश्क के इम्तिहां और भी हैं॥

गीत वो गूंजेगा जिसे हमने संवारा होगा !

रामानन्द दोषी

शोर बाहर है बहुत और मन में एक सन्नाटा है
आज हम वक़्त से कट कर के कहां आ बैठे
भीड़ के बीच ये सुनसान जगह कैसी है
अपनी हस्ती से हम अनजान जहां आ बैठे

बात होंठों पे घुमुड़ के कोई रह जाती है
झूम उठने को तरसते हुए सावन हैं हम
एक हमदम के गुज़र जाने से यों लगता है
फ्रेम की बांह में टूटे हुए दरपन हैं हम

आंधियां आ के दबे पांव गुज़र जाती हैं
पर ये पुरवा के झकोरे नहीं जीने देंगे
मौत से छीन के लाये थे जो अमृत घट हम
उसके दो घूंट हमें दोस्त न पीने देंगे

घाव ग़ैरों ने दिये उन को तो सी भी लें पर
दर्द अपनों ने जो दे डाला है, उस का क्या हो
नाग का फन यों तो होता है कुचलने केलिए
पर जिसे आस्तीन में पाला है, उस का क्या हो

तुम जो हर जिन्सकी ले-बेच पे उतरे हो इसे याद रखो
भाई के खूं की तिजारित नहीं अच्छी होती
दो घड़ी जिस के न साये में कोई बैठ सके
रत्नमंडित हो भले, पर वो इमारत नहीं अच्छी होती

ख़ैर ये दौर है और दौर गुज़र जाते हैं
आख़िरी दांव, ये तय है, हमारा होगा
कल का नक्शा वही होगा, जिसे हम चाहेंगे
गीत वो गूंजेगा, जिसे हम ने संवारा होगा

तुम भी गर साथ रहो, बात कुछ और बने
वर्ना हम को तो सवेरा नया लाना ही है
हर किसी आँख चमक, हर किसी दिल में उमंग
हर किसी होंठ पे मुसकान सजाना ही है

• • •

महाकवि परमानन्द : व्यक्तित्व और कृतित्व

पृथ्वीनाथ मधुप

कमल, केसर और काव्य-भूमि कश्मीर को 'र्यशवा'र'—ऋषि-वाड़ी—के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इस सुरम्य भूमि ने बड़े-बड़े ऋषियों को जन्म देकर विश्व के अज्ञानांधकार को अपनी पावन वाणी के आलोक द्वारा आलोकित किया है। इसी ऋषि परम्परा में महाकवि परमानन्द का अपना एक विशिष्ट स्थान है। कश्मीरी काव्य-रसिकों में ऐसा कोई नहीं होगा जिसने स्वामी परमानन्दजी की कविताओं का आस्वादन करके परमानन्द प्राप्त न किया हो। माँ सरस्वती के ये वरद पुत्र कश्मीरी की ''लीला काव्य'' विधा के प्रर्वतक एवं प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

मार्त्तण्ड (मट्टन) तीर्थ से लगभग तीन मील की दूरी पर 'सीर' नाम का एक गांव है। यहीं एक स्वामिन् भारद्वाज गोत्रीय कश्मीरी ब्राह्मण कृष्ण पण्डित अपनी धर्मपत्नी सरस्वती के साथ रहते थे। इन्हीं के यहां सन् १७९१ ई० में एक लड़का जन्मा, जिसका नाम नन्दराम रखा गया। यही नन्दराम कालान्तर में काव्य-जगत में परमानन्द के नाम से विख्यात हुए। इनके वास्तविक नाम—नन्दराम—को भूल कर लोग इन्हें इन के उपनाम—परमानन्द—से ही याद करने लगे। कृष्ण पण्डित के दो और बेटे थे—ठाकुर पण्डित और सहज पण्डित। कृष्ण पण्डित मट्टन क़सबे के पटवारी थे ओर 'सीर' गांव से आकर सपरिवार मट्टन में ही रह रहे थे।

कश्मीर में मुसलमानों के शासन से फ़ारसी भाषा का प्रचार आरम्भ हुआ था। कश्मीरी ब्राह्मण जो अपने गम्भीर संस्कृताध्ययन के लिए सुप्रसिद्ध थे; अब जीविकोपार्जन के

लिए फ़ारसी पढ़ने लगे। बालक नन्दराम को भी पिता ने गांव के मकतबे में एक मुल्ला के पास फ़ारसी पढ़ने के लिए भेजा। यहां इन्होंने शेख़ सादी कृत "गुलिस्तां" और "बोस्तान" नामक पुस्तकें पढ़ीं और साथ ही लेखन और गणित का सामान्य ज्ञान भी प्राप्त किया। कहा जाता है कि परमानन्द फ़ारसी में भी कविता करते थे। इन्होंने पहले-पहल अध्यात्म-शिक्षा अपने पिता जी से ग्रहण की थी। इस बात का संकेत कवि की वाणी में भी मिलता है। लिखते हैं :

सथग्वर तु॑बब म्योन श्री कृष्ण दीव।
त्रैलूकी छ दीह तु॑ सु छुस जीव॥

(मेरे सद्गुरु और पिता श्री कृष्ण हैं। त्रिलोकी देह है और वे इस देह की आत्मा हैं।)

कहा जाता है कि इनके कुल-गुरु, जो बहुत ही वृद्ध थे, बिजबिहारा में रहते थे। परमानन्द ने इनसे या इनके सुपुत्र पण्डित आत्माराम जी से षट्-चक्र उपासना कुण्डिलिनी प्रयोग की दीक्षा ली थी। बनारस से आये हुए एक परमहंस श्री स्वामी आत्मानन्द जी महा-राज के सम्पर्क में भी कवि परमानन्द बहुत समय तक रहे। अत: अवश्य ही उन से भी इन्होंने अध्यात्म सम्बन्धी वार्ता या सत्संग किया होगा। कृष्ण पण्डित ने स्वयं अपने लिए फ़ारसी महाभारत की नकल की थी। और स्वयं परमानन्द ने 'उपनखत' (उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद जो दाराशिकोह ने करवाया था) की एक प्रति अपने लिए बनाई थी। इन दोनों ग्रन्थ रत्नों के अध्ययन से परमानन्द जी ने विशेष ज्ञान अर्जित किया।

मार्त्तण्ड (मट्टन) भारत के मुख्य तीर्थों में से एक है। भारत के लगभग सभी प्रान्तों से यहां साधु-महात्मा एवं यात्री आते हैं। श्री अमरनाथ स्वामी की पवित्र गुफा के दर्शनों के निमित्त जो यात्री आते हैं, वे भी यहीं से गुजरते हैं; अत: मार्त्तण्ड में सदा साधु-सन्यासियों का जमघट रहता आया है। इन साधु-महात्माओं के संसर्ग में परमानन्द जी भी आये और उन के धार्मिक प्रवचनों एवं व्याख्यानों से उन्होंने लाभ उठाया। परमानन्द जी एक सिख साधु के सम्पर्क में भी आये थे और उनसे उन्होंने 'गुरु ग्रन्थ साहब' भी सुना था। हमारी इस बात का प्रमाण परमानन्द जी की कई कविताओं की हिन्दी-पंजाबी मिश्रित भाषा (जिसे वे स्वयं 'भाखा' कहा करते थे) है। देखिये :

१. ......ना वेद आख सके ना भाखा।
२. मन कंसा तन मथुरा होंदा।
३. क्यों रोंदा किस कारण हासदा।
४. असी मानू त्वाडी तुसी साडी मन
५. टुर न सके तुम पकड़ो हाथ।

इसके अतिरिक्त इन की 'राधा स्वयंवर' नामक कृति की एक हिन्दी कविता, जिस की प्रथम पंक्ति 'अपनी करनी पार उतरनी...' है, में इन्होंने 'गुरु ग्रंथ साहब' में संग्रहीत कबीर के एक पद की दो पंक्तियां ज्यों की त्यों लिखी हैं :

इक लख पोतुॅ, सवालख नाते
ते रावण घर देवा न बाते ।[1]

कहा जाता है कि परमानन्द जी के समय में एक अच्छे साधु पण्डित टिकुॅराम उनके पड़ोस में रहते थे । वह आयु में परमानन्द जी से काफी बड़े थे और फ़ारसी में भजन आदि रचा करते थे, अत: उनका प्रभाव भी कवि पर अवश्य पड़ा । महायोगिनी लल्लेश्वरी तथा शेख़ नूर-उल-द्दीन साहब का प्रभाव भी हमारे कवि पर काफी रहा ।

परमानन्द जी का बचपन में ही विवाह मट्टन के एक दूसरे पटवारी की लड़की से हुआ था जो इनके पिता के मित्र थे। कहा जाता है कि वह लड़की आयु में परमानन्द जी से कई महीने बड़ी थी । उसका नाम मालद्यद था । वह एक तेज़-मिज़ाज स्त्री थी । उस के इस स्वभाव के कारण पास-पड़ोस की स्त्रियाँ उससे काफी डरा करतीं थीं । वह महाकवि को भी असांसारिक होने (धन-सम्पत्ति न बटोरने) पर झिड़कती थी । पत्नी के इस क्रूरस्वभाव का कुछ भी प्रभाव महाकवि की शान्ति एवं मधुर प्रकृति पर न पड़ा । कभी-कभी वे अपनी पत्नी की मूर्खता का मज़ाक भी उड़ाया करते थे । एक बार इनके पड़ोस में किसी की मृत्यु हो गई । परमानन्द जी ने अपनी पत्नी से खाना मांगा । पत्नी ने उन्हें खाना नहीं दिया और बोली—"जब तक पड़ोस में शव पड़ा रहेगा, तब तक भोजन करना उचित नहीं ।" परमानन्द जी (जो शाकाहारी थे) ने झट उस टोकरी की ओर जिस में सूखी मछलियां पड़ीं थीं, संकेत करते हुए कहा—"इतने शवों के होते हुए यदि खाना खाना उचित है, तो पड़ोस में पड़े एक शव की उपस्थिति से तुम क्यों घबराती हो ?"

परमानन्द जी का शरीर स्वस्थ, सुन्दर एवं आर्कषक था । इन के शरीर की एक अनुकृति प्राप्त हुई है । इस अनुकृति का चितेरा महाकवि का ही एक शिष्य—नारायण मुरचगर (मूर्तिकार) बताया जाता है । महाकवि की यह अनुकृति अभी भी उनके घर में सुरक्षित है । इस अनुकृति को देखने से ज्ञात होता कि परमानन्द जी का भाल विशाल, बड़ी-बड़ी सुन्दर आंखें, ऊंची और नुकीली नाक और वक्ष एवं स्कन्ध विशाल थे । वे गम्भीर स्वभाव के थे, परन्तु थे काफी विनोद प्रिय । कहा जाता है कि एक किसान और उस के कई साथी किसी अन्य के विरुद्ध एक षड़यन्त्र रच रहे थे । परमानन्द जी को इस षड़यन्त्र के बारे में जानकारी हो गयी थी । एक दिन जब वही किसान परमानन्द जी के पास आया तो उन्होंने उस से उसी बात की प्रगति के बारे में पूछा । किसान ने उत्तर दिया—"महाराज दला-दला छिस दिवान"—अर्थात् महाराज ! यह (बात) विचाराधीन है । इस पर महाकवि ने उत्तर दिया—' ओ यि छि दलुॅनुॅय हुन्ज़ का'म ।" अर्थात्

१. 'हां, इन बातों पर अच्छी तरह से विचार करना चाहिए ।'

२. 'हां, यह तो दुराचारियों का ही काम है ।'

---

१. इक लख पूत सवा लख नाती,
ते रावण घर दिया न बाती ।

—कबीर, 'गुरु ग्रंथ साहब' ।

एक जगह भगवान श्री कृष्ण से पूछते हैं :

"बाप हमारा कृष्ण हुआ हो, पिता तुम्हारा नन्द ।
आपस में क्या पहुंचोंगा हम, आप करो दरदाम ॥"

(हे कृष्ण ! मेरे पिता जी का नाम कृष्ण है आप के पिता (का नाम) नन्द हैं [जो मेरा नाम है], अत: आपस में हम क्या लगते हैं—यह तो स्वयं आप ही बता सकतें हैं !)

परमानन्द जी मदहम अच्छा बजाते थे। मदहम बजाते और भजन गाते हुए वे इतने तल्लीन एवं आनन्द विभोर हो जाते थे कि मस्त हो कर शरीर की सुध भूल कर परमहंस भगवान श्री रामकृष्ण जी की भाँति, भावावेश में नाचने लगते। वे अच्छा खाते और अच्छा पहनते थे। जो चावल इन केलिए पकाये जाते थे, वे बढ़िया किस्म के हुआ करते थे, जिनका प्रबन्ध मट्टन का 'मुकद्दम', सालेह गनाई करता था।

जब परमानन्द जी पच्चीस वर्ष के थे तभी इनके पिता परलोकगामी हुए। पिता की मृत्यु के पश्चात् परमानन्द जी उनके स्थान पर पटवारी नियुक्त हुए। उस ज़माने में पटवारी को हेय दृष्टि से देखा जाता था। अधिकारियों द्वारा उस पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार किये जाते थे। परमानन्द जी भी इसके अत्याचार के शिकार हुए। उन्होंने अपने एक अधिकारी, मिसरा राधूमल, पर एक व्यंग्य कसा। लिखते हैं :

मिसरा छुॅ बे-नुक्तु रोद,
वुनि छुख यि दा'दिस दोद।
बिहिथ छु दुलरि ज़न
हारान छु तुलुॅरि ज़न।
मटनुॅ छे खा'हिश तस
पठवा'र्य दिन्य दर्मस।
थारान छि गारन कस।
वन्यतव यि बही क्या।
गयि नुॅ सही ज़ांह ॥

मिसरा राधूमल एक बेलगाम और बिन्दी रहित पंक्ति है। (अर्थात् —मिसरा राधूमल जब फ़ारसी लिपि में लिखा जाए तो इस में कहीं बिन्दी नहीं आती।)

अब वह (पटवारियों को) ऐसा कष्ट दे रहा है, जैसा कि भिड़ के काटने से होता है। अब इस की इच्छा है कि श्राद्ध पर लोग पटवारियों को (गाए के बदले) दान दें (क्योंकि पटवारी गाए से भी सस्ते मिलते हैं।) पटवारी बेचारे थर-थर कांप रहे हैं, क्योंकि वे सोचते हैं—पता नहीं इस काम के लिए किसे चुना जाए। आखिर बात क्या है कि पटवारियों का 'खाता' ठीक नहीं समझा जाता।)

यह भी जनश्रुति है कि एक बार परमानन्द जी को अपने एक उच्चाधिकारी केलिए मट्टन से खनबल घाट तक एक बड़ी भेड़ कन्धों पर ले जानी पड़ी थी। इस घटना ने भी एक लोकप्रिय कविता को जन्म दिया, जिसकी प्रारम्भिक दो पंक्तियां इस प्रकार हैं :

त्राहिमाम त्राहे पाहे मुरा'री
कट संकट ही मुकदु दा'री

अर्थात्—हे मुर नामक असुर के शत्रु ! (कृष्ण) हे मुकट धारण करने वाले—१. मेरा संकट काटो : दूर करो । २. इस भेड़ (उठाने के) संकट से मुझे बचाओ ।

यहां 'कट' शब्द श्लिष्ट है—काटो और भेड़ के अर्थ में ! लगता है कि उपरोक्त पंक्तियों में 'मुरारी' सम्बोधन जानबूझ कर लगाया है क्योंकि इस शब्द से ध्वनित होता है कि हे कृष्ण, जिस प्रकार आपने 'मुर' जैसे दुष्टों का संहार किया, वैसे ही इन (मुरों—हमारे अधिकारियों) दुष्टों का भी संहार करो, क्योंकि ये लोग भी सज्जनों को बहुत सताते हैं ।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में परमानन्द जी ने पटवारी के पद से त्याग-पत्र दे दिया । अब वे अपना सारा समय भगवद्-ध्यान एवं चिन्तन में ही बिताना चाहते थे । नौकरी से त्याग-पत्र देने के बाद वे पन्द्रह वर्ष तक अपने आसन को छोड़कर कहीं बाहर नहीं गये । यही वह समय था, जब महाकवि बनारस के सन्यासी परमहंस स्वामी आत्मानन्द जी के नैकट्य में रहे । कहा जाता है कि ये दोनों महीनों तक परमानन्द जी के घर पर एक साथ ही रहे ।

परमानन्द जी की चार सन्तानें थीं—दो लड़कियां और दो लड़के । एक लड़की का विवाह उन्होंने मट्टन के निकटवर्ती गांव में ही किया था । इसी लड़की के मानुपण्डित नाम का एक पुत्र हुआ था, जिसे बाद में परमानन्द जी ने गोद लिया । दूसरी लड़की के पति का नाम पण्डित गुपाल राज़दान था । यह अपने श्वसुर के घर में ही रहने लगा था । दो लड़कों में से, महानन्द पण्डित नामक, छोटे का तो बचपन में ही स्वर्गवास हो चुका था । बड़ा विवाहोपरान्त वृद्ध पिता को असहाय छोड़ कर चल बसा । इस प्रकार परमानन्द जी बुढ़ापे में बे-सहारा से हो गये । इस दशा का करुण चित्रण कवि ने यों किया है :

कुन तु कीवल तु सा'र सूरमुच् आश ।
न्येपोतर तु न्यतरन नु रूदमुत गाश ।।

(मैं अकेला रह गया हूं, मुझे कोई उम्मीद नज़र नहीं आती । पुत्रहीन हूं, आंखों से भी अब दिखाई नहीं देता है ।)

उक्त पंक्तियाँ कितनी करुणापूर्ण हैं ! अकेलेपन और पुत्रहीन होने का कवि को कितना दुःख है ! परन्तु कवि होने के साथ ही वे महान भक्त, योगी और दार्शनिक भी थे । वे अपने आप को समझाते हुए कहते हैं :

संसार नश्वर है यहां कोई किसी का नहीं । किसी से कोई नाता नहीं, सम्बन्ध नहीं; यदि है भी तो सम्बन्धी सदा सुख ही नहीं देते :

परमानन्दु छुय च्य सन्तानु अरमानु
सन्तान ओसुय स्वनु तानो

हा .च्ये सन्तान मा आसिही मारानु ।
सन्तानु सुन्दि खोतु, टोठ ज़ान बगुवानु
टाठयुन छि टाठ्य खश करानो ।

(हे परमानन्द ! तुम निपूत होने के कारण चिन्तित हो । तुम्हारा विचार है कि पुत्र अमूल्य सम्पत्ति है । तुम यह क्यों नहीं सोचते कि पुत्र मार भी सकता है—पुत्र यदि कुपुत्र निकले तो वह कुल के नाम को कलंकित कर देगा । पुत्र से अधिक भगवान को प्रिय जानो—'पुत्र, पुत्र' की रट न लगाओ, भगवान का नाम जपो ।)

परमानन्द जी के भाइयों एवं पुत्रों के अभाव की पूर्ति बहुत हद तक उन के सयोग्य शिष्यों, प्रेमियों, एवं प्रशंसकों ने की थी । उनके प्रधान शिष्य पण्डित लक्ष्मण जी थे ! वह 'नागाम' गाँव के निवासी थे । उन का उपनाम 'बुलबुल' था । वह फ़ारसी के अच्छे विद्वान थे । परमानन्द जी के सम्पर्क में आने से पहले वह कश्मीरी में 'नल-दमयन्ती' नामक एक प्रबन्ध-काव्य तथा बहुत सी ग़ज़लें लिख चुके थे । जब परमानन्द जी 'राधास्वयंवर' नामक प्रबन्ध लिख रहे थे, तो लक्ष्मण जी ने इस काव्य का मोहिनी आख्यान लिखा । एक दिन शिष्य ने अपने गुरु से इस आख्यान को पढ़ सुनाने की आज्ञा चाही । न्यूनतम संशोधनों के बाद, परमानन्द जी ने उस आख्यान को अपने काव्य में समाविष्ट कर लिया । इस रचना को सुन कर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने लक्ष्मण जी से कहा,—"तुमने मेरे साग में केसर डाला है ।"—मेरी साधारण कृति को तुम ने असाधारण बना दिया है । इन दोनों कवियों की शैलियों में इतना साम्य है कि साधारण पाठक यह कह नहीं सकता कि 'राधास्वयंवर' का मोहिनी नामक आख्यान किसी दूसरे कवि का लिखा हुआ है । लक्ष्मण जी की कविता अपने गुरु की कविता की भांति ही सरस है । परमानन्द जी की कविता कहीं-कहीं बहुत गूढ़ होने के कारण प्रषणीयता से वंचित है परन्तु लक्ष्मण जी की कविता कहीं भी प्रसादगुण रहित नहीं है ।

पण्डित लच्छीराम, पण्डित सहज़राम, पण्डित कशिकाक तथा पण्डित नारायण जी भी परमानन्द जी के शिष्य बताये जाते हैं । पण्डित लच्छीराम जी ने भी कविता द्वारा अपने गुरु के विचारों को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है । पण्डित सहजराम अपने गुरु के रचे हुए भजनों को तल्लीन हो कर गाते थे । इनका गला बहुत ही सुरीला एवं मधुर था । भजन-मण्डलियां इनके बिना काफी फीकी लगती थीं । पण्डित कशिकाक एक अच्छे वैद्य होने के साथ-साथ एक अच्छे भगवद्भक्त और योगी थे । पण्डित नारायण जी 'मुरचगर' इन्हीं के भाई थे जिन्होंने अपने हाथों अपने गुरु का चित्र बनाया था, जो आज भी परमानन्द जी के घर में सुरक्षित है ।

परमानन्द जी के मित्रों एवं प्रशंसकों में से पण्डित धर्मचन्द, स्वामी निदानकाक जी महाराज तथा सालेह गनाई का नाम उल्लेखनीय है । पण्डित धर्मचन्द परमानन्द जी के साथ पटवारी थे । वह इनके अच्छे मित्र थे । स्वामी निदानकाक जी महाराज परमोच्च सन्त थे और बिजबिहारा में निवास करते थे । इन्होंने सुना था कि परमानन्द जी भजन अच्छे गाते हैं । इन के निमन्त्रण पर परमानन्द जी, काकजी महाराज के पास गये और रात भर उन्हें तथा

अन्य व्यक्तियों को भजन सुनाते रहे। बहुत रात बीत जाने पर, काक जी महाराज के अतिरिक्त अन्य सभी लोगों के सो जाने पर भी परमानन्द जी तल्लीन होकर भजन गाते रहे। इसी बीच काकजी महाराज की आंखें भी थोड़ी देर केलिए झपकीं। उन्होंने देखा कि परमानन्द जी के एक कन्धे पर भगवान कृष्ण और दूसरे कन्धे पर राधा जी विराज रहीं हैं। काकजी महाराज झट उठे और उन्होंने परमानन्द जी के चरणों में प्रणाम किया। इस घटना के बाद दोनों एक दूसरे का काफी मान एवं सत्कार करने लगे। जनश्रुति है कि इस घटना के पश्चात् परमानन्द जी के दर्शनों के लिए काक जी बिजबिहारा से मट्टन तक पैदल जाते थे और साथ में चावल के आटे की एक रोटी भेंट केलिए ले जाते थे। परमानन्द जी इस रोटी को नैवेद्य मानकर इस के अनेक टुकड़े करते और अपने शिष्यों में बांटते।

सालेह गनाई गांव का मुकद्दम था। वह अपने आपको परमानन्द जी का सेवक मानता था। परमानन्द जी की आध्यात्मक शक्ति ने सालेह को अपनी ओर आकृष्ट किया था। वह उनके लिए अच्छी किस्म का चावल तथा अन्य आवश्यक सामग्री लाता था।

परमानन्द जी ने अपने समय के महात्माओं, फ़कीरों तथा कवियों से भी भेंट की थी। कहा जाता है कि वे वेरीनाग के 'डरू' नामक गांव में कश्मीरी के तत्कालीन प्रसिद्ध कवि महमूद गामी से मिलने गये थे। इसी प्रकार वे 'ख्रुॅव' नामक गांव के निकट रहने वाले उस समय के अच्छे मुसलमान फ़कीर से भी मिलने गये थे। इस फ़कीर का नाम वहाब साहब था। इस के पास परमानन्द जी अपने मित्र धर्मचन्द को साथ ले कर गहु थे। उन्ही दिनों परमानन्द जी ने एक कविता लिखी थी। यह कविता उन दिनों बहुत लोकप्रिय हुई, परन्तु इसमें, कवि की अन्य कविताओं की भाँति ही, संस्कृत के बहुत से शब्द थे। यह कविता इस प्रकार आरम्भ होती है :

कर्मु ॅ बुमिकायि दिज़ि दर्मुक बल।
सन्तोषि ब्यालि बवि आनन्दु ॅ फल॥

(कर्म की भूमि (खेत) को धर्म का बल (खाद) दो, उस में सन्तोष के बीज बोने से आनन्द के फल उत्पन्न होंगे।)

इस कविता में कृषि शब्दावली द्वारा आध्यात्मिक भावों को समझाया गया है। अन्य बातचीत के अनन्तर वहाब साहेब ने विनोद में परमानन्द जी से उक्त कविता के बारे में शिकायत की कि यह अच्छी कविता आपने 'हिन्दू-कश्मीरी' में लिखी है, अत: मुसलमान इस से कोई लाभ नहीं उठा सकते हैं। यह सुनकर परमानन्द जी ने उसी समय एक कविता रची। धर्मचन्द्र जी लिखते जाते थे और परमानन्द जी धारा-प्रवाह रूप में कहते चले जाते थे। इस कविता की विशेषता यह है कि इसमें संस्कृत का शब्द बाहुल्य नहीं है और उपरोक्त कविता की भाँति ही कृषि शब्दावली विद्यमान है। इस कविता की प्रारम्भिक दो पंक्तियों का अवलोकन कीजिये :

पंच-त्रे बागुॅलिस क़रारदादस।
वादस ज्यादु ॅ नज़ि कम॥

(फसलों को विभाजित करने का जो पांच और तीन विभागों का समझौता है, उस को बिल्कुल पूरा करना है । इस (किये गये) वचन से अधिक या कम नहीं ।)

इससे सहज में ही पता चलता है कि परमानन्द जी का भाषा पर कितना अधिकार था । एक तरफ यदि वे संस्कृतनिष्ट पद्यरचना अच्छी तरह से कर सकते थे तो दूसरी तरफ फ़ारसीनिष्ट रचना में वे पीछे नहीं थे । वे आशु-कवि थे ।

परमानन्द जी के काव्य की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं हैं, उन में से पण्डित नारायण कौल की प्रति को अधिक प्रामाणिक समझा जाता है । महाकवि के प्रिय शिष्य लक्ष्मण जी भट्ट ने भी अपने गुरु की रचनाओं की एक प्रतिलिपि स्वयं तैयार की है । कहा जाता है कि यह प्रति स्वर्गीय भट्ट जी के घर वालों के पास मौजूद है, परन्तु प्रोफेसर एस० के० तोषखानी के शब्दों में—"इस प्रतिलिपि का प्राप्त होना कठिन मालूम होता है ।"

महाकवि की कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित भी किये गये हैं । इन में से एक संग्रह 'ज्ञान प्रकाश' के नाम से फ़ारसी लिपि में 'बी० एन० रैणा एण्ड ब्रदर्स' की ओर से प्रकाशित हुआ है । मास्टर ज़िन्दा कौल जी ने भी नागरी लिपि में अंग्रेज़ी अनुवाद सहित 'परमानन्द सूक्तिसार' तथा 'परमानन्द' भाग १, २, और ३ छापे हैं । कश्मीर की कल्चरल अकादमी की ओर से भी 'परमानन्द' नाम से ही महाकवि की कई कविताएँ फ़ारसी लिपि में उर्दू अनुवाद सहित प्रकाशित हुई हैं । प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने भी राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा की कवि श्री माला योजना के अन्तर्गत 'कवि श्री-माला कश्मीरी : परमानन्द' नामक पुस्तक लिखी है । परमानन्द जी की जिन कविताओं को छापा गया है, उनमें पाठान्तर तथा छापे की बहुत अशुद्धियां हैं । जिन पाण्डुलिपियों से इन संग्रहों की सामग्री ली गई है, वे चूँकि फ़ारसी लिपि में लिखी गईं हैं अतः उन में अशुद्धियों का होना स्वाभाविक ही है । फ़ारसी लिपि एक तो अवैज्ञानिक एवं बहुदोष युक्त है, दूसरे इसमें लिखे हुए संस्कृत और कश्मीरी के शब्दों का शुद्ध उच्चारण हो ही नहीं सकता, तीसरे पाण्डुलिपिकारों ने किसी ध्वनि-चिन्ह का प्रयोग नहीं किया है । जहां पर महाकवि की कविताएं छापने वाले पाण्डुलिपियों से शब्द-विशेष का मुख्य भाव के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकें हैं, वहां उन्होने अनुमान से काम लिया है । साहित्य क्षेत्र में ऐसा करना अपराध से कम नहीं है । साहित्य-रसिकों एवं परमानन्द जी के भक्तों तथा कश्मीर की कल्चरल अकादमी को चाहिए कि कवि के प्रिय शिष्य लक्ष्मण जी, नागाम निवासी, द्वारा तैयार की गयी पाण्डुलिपि की खोज करें और उसी के आधार पर महाकवि की रचनाओं का एक प्रामाणिक संग्रह, योग्य विद्वानों की देखरेख में तैयार करें । मेरी राय में लक्ष्मण जी द्वारा तैयार की गई पाण्डुलिपि ही प्रामाणिक हो सकती है ।

परमानन्द जी के कवित्व एवं उन की लेखनी में अलौकिक शक्ति थी । उनका काव्य रस का उमड़ता हुआ सागर है, माधुर्य का परम पारावार है । इन की भाषा एवं भावों में जादू है । इन की कविताओं का पाठ करते समय मन को अलौकिक शान्ति एवं एकाग्रता का अनुभव होता है । 'लीला' काव्य विद्या को अपनाने से पहले परमानन्द जी 'गरीब' उपनाम से फ़ारसी तथा कश्मीरी में गज़लें आदि लिखा करते थे । उस समय जो फ़ारसी तथा कश्मीरी

कविताएँ उन्होंने लिखीं, वे आजकल अप्राप्य हैं। केवल ऐसी कविताओं के कई चरण ही हम तक पहुंच पायें हैं।

परमानन्द जी ने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों प्रकार की काव्य विधाओं को अपनाया है। पहले हम इन के मुक्तक काव्य पर ही एक दृष्टि डालेंगे। इन्होंने जो कविताएं देवी, गणेश, शिव तथा विष्णु आदि को सम्बोधित कर लिखी हैं, उनमें इन के दैन्य भाव को अभिव्यक्ति मिली है। मास्टर ज़िन्दाकौल जी के शब्दों में इसे 'दीनकुन्दन' कहना चाहिए। गणेश जी को सम्बोधित कर कवि कहतें हैं :

संसारु॑ गा॑मुत्य यच़ छिम दिको;
बुजिरस कु॑ह छुम न मुहिमुक॑ यार।
सूरुम आयिचार मनट्यव॑ तु॑ त्रको।
व्यनायको जय जयकार॥

(इस संसार में मैंने वहुत से दु:ख उठायें हैं, बुढ़ापे में मेरा कोई सहारा एवं सहायक नहीं। मेरी आयु का अधिक भाग बीत गया है। हे विनायक ! आप की जय जयकार हो।)

कई ऐसी कविताएँ हैं जिन में कवि ने योग-विद्या से सम्बन्ध रखने वाली बातों—— प्राण, दशदल, नाभिस्थान आदि शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। इस प्रकार की कविताओं में 'सन्तोशि ब्यालि ववि आनन्दु॑ फल' (लीलायि जमीन्दारी) तथा अमरनाथ यात्रा सम्बन्धी कविताओं का नामोल्लेख किया जा सकता है। पहली कविता में खेती करने का विवरण देकर मानव के कर्मक्षेत्र का परिचय कराया गया है। दूसरी कविता में कवि ने कलात्मक ढंग से अमरनाथ यात्रा के सभी स्थानों का वर्णन करके योगाभ्यास की सभी मंज़िलों का वर्णन किया है। दोनों कविताओं में से एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है :

१. **द्वयि प्रानु॑ दान्दु॑जूर्य द्यन तु॑राथ वाय**
कुम्बकु॑ कुरु॑ ज़ोरु॑ तिमु॑नुय लाय
हिलु॑ कर युथ न बीठ रोज़ि कांह छल......

(रात और दिन दो प्राणों के बैलों की जोड़ी से (खेती में) हल चलाओ। इन्हें (बैलों को, चलाने के लिए) कुम्भक का चाबुक ज़ोर से लगाओ। देखो, कहीं इस खेत का कोई भी अंश अनजुता न रहे।)

२. **नाभिदीशि दशदलु॑ संगमस**
यम्य चा॑व्य लूख सथ संगु॑मस
कृष्णस स्थावर जंगु॑मस।

(जहाँ नाभिदेश और दशदल कमल का संगम है, उस 'संगम' नामक स्थान ने लोगों एवं स्थावर जंगम कृष्ण को भी सत्संग की सुरा पिलाई।)

ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनका विषय विवेक, वैराग्य और भक्ति है। ऐसी कविताओं के अधिकांश चरण मर्म को छूने वाले बन पड़े हैं। इनको पढ़ते हुए पाठक परमानन्द जी की

प्रतिभा की दाद दिये बिना नहीं रहता। कवि की वेदान्त दर्शन सम्बन्धी कविताओं को साधारण पाठक नहीं पढ़ते—वे रहस्यमयी, गूढ़ एवं उच्च वेदान्तिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करतीं हैं। ये कृतियां कवि के परिपक्व मस्तिष्क की उपज हैं। इन रचनाओं के अध्ययन से ऐसा लगता है कि कवि अब दान, होम, तीर्थ-यात्रा, योगाभ्यास आदि से बहुत ऊँचे उठ गये हैं। इन दार्शनिक कविताओं में से 'सहजु व्यचार', 'तत्त्वं असे' तथा 'अनपीख्युत' आदि कविताएँ उल्लेखनीय हैं ! दो उदाहरणों का अवलोकन कीजिये :

यिय छुख तु ती छुख छुख नु ब्ययन वुछोनुये।
अछनहुन्द, गाश पानु अछिव वुछूनये।
वुछुन छु छुनुय वुछिवुन गछि वुछोनुये॥

तुम वही हो जो तुम हो (तुम्हारी परिभाषा हो ही नहीं सकती) तुम्हें अन्य देख नहीं सकते—पर तुम अपने आप को देख सकते हो। आंखें जिस के द्वारा देखती हैं, उसे वे स्वयं देख नहीं पातीं। जो वस्तुएं देखने में आयें, उन्हें देखना कोई बड़ी बात नहीं, बड़ाई इसमें है कि देखने वाले को देखा जाये ?

परमात्मा उत्तम तत्त्वम् असि।
उँलसे न तु अेदु लसे न कुंह॥

(जब तक 'तत् स्वं असि' को पूर्णरूपेण जीवन में न उतारा जाए तब तक कोई जीवित नहीं रहेगा।)

परमानन्द जी को रहस्यवादिता तथा उच्च दार्शनिकता ने कहीं-कहीं अतिदुरूह एवं विलष्ट बनाया है। इन्हीं भावों ने इनकी अधिकांश काविताओं को संगीत विहीन कर दिया है।

महाकवि ने तीन प्रबन्ध भी लिखें हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१. राधा स्वयंवर।
२. स्वदामु चर्यथ।
३. शेवु लॅगुॅन।

इन प्रबन्धों में क्रमशः राधा तथा अन्य गोपियों का भगवान कृष्ण के प्रति प्रेम, सुदामा जी का प्रेम भगवान कृष्ण के प्रति तथा भगवान शिव और उमा का पुनर्मिलन दिखाया है। इन काव्यों का उद्देश्य आत्मा का परमात्मा से मिलन तथा परमात्मा से आत्मा का असीम प्रेम दिखाना है। 'राधा स्वयंवर' के आरम्भ में ही कवि ने मानो अपने स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है :

गूक्वल हृदय म्योन तत्य चोन गूर्य वानु

अर्थात्—मेरा हृदय गोकुल है, वहीं आप की गोशाला है।

और—

व्रच म्याञि गूपियि चेय पतुलारानु
बनसरी नादु वादु मतानो.........

(मेरी वृत्तियां गोपियां हैं जो तुम्हारे पीछे दौड़तीं हैं और बांसुरी का नाद सुन कर मतवाली हो जातीं हैं ।)

इस प्रबन्ध में भगवान कृष्ण के विवाह का प्रसंग बहुत ही मार्मिक बन पड़ा है जो पढ़ते ही बनता है । इस प्रसंग को पढ़ते हुए यह अनुभव होता है कि यह किसी साधारण सांसारिक मनुष्य की शादी नहीं होने जा रही, अपितु स्वयं जगन्निर्माता की शादी हो रही है । इसी कारण तो इसमें पाँचों तत्व भाग ले रहे हैं । भगवान की बारात जाने वाली है । देखिये कैसी-कैसी तैयारियाँ हो रहीं हैं :

वावुलूकु॑पाल द्राव लछ़ डुवुनावानु॑
यन्द्राजु॑ वतु॑ लिवु॑ नावानो
बसन्त रंगु॑ रंगु॑ पोश वथु॑रावानु॑ ।।
सिर्यि चन्द्रमु॑ ह्यथ शमा चरागानु॑
वुजु॑मल अथि ह्यथ तापदानो,
वुजियिनु॑ माया मंजिलस अलुरानु॑ ।।
पञखी आकाशिँ पखु॑ आ'स्य करानु॑
नखु॑ वा'त्य तोत यति वृषिवानो
ब्रोंठु॑ द्राख तोरुक्य लूख सा'र्य तोतानु॑ ।।

स्वयं वायु देवता मार्ग बुहारने लगे । इन्द्र पथों को लीपने लगे और वसन्त पुष्प बिखेरते गये ।

सूर्य और चन्द्र देवता ने दीपमालिका से पथ को प्रकाशित किया, बिजली (बादलों का) छाता लिये हुए थी और माया स्वयं (कृष्ण जी का) पालना हिला रही थी कि कहीं वे जाग न जाएं ।

आकाश पर पक्षी (अपने पंखों से) पंखे झल रहे थे । बारात वृषभानु के यहां पहुंची । वहां सभी उन (बरातियों) की स्तुति करते हुए स्वागत केलिए निकले ।

'स्वदामु॑ चर्यथ' में आतमा (जीव) और परमात्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से व्यंजित हुआ है । आत्मा परमात्मा का अंश है, परन्तु यही आत्मा जब परमात्मा से दूर होती है तो कष्टों एवं दु:खों का शिकार बन जाती है । आत्मा तथा परमात्मा के पुर्नमिलन पर असीम आनन्द की सृष्टि होती है । सुदामा जी का परिचय कवि ने यों कराया है :

सोदामजीव ओस यार बगु॑वानस

सुदामा (जीव) भगवान का मित्र था । जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की कैसी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है ! इस स्वाभाविक अभिव्यक्ति से सारे काव्य में, कहीं पर भी व्याघात नहीं आने पाया है । सुदामा जी के द्वारिका पहुंचने पर :

ओरु॑ द्राव बगु॑वान सोदरु॑शनय ।
योरु॑ सोदामजीव गोस अरुपनय ।।

उधर से मनोहर छवि वाले भगवान आये और इधर से सुदामा (जीव) ने अपने आप को उन्हें अर्पित किया ।

भगवान स्वयं सुदामा (जीव) को लेने केलिए चल पड़े । क्योंकि :

युस कोह् तस कुन अख पूर फेरे
बगॅवान तस तोरॅ वह पूॅर्य नेरे
नेरे छू न्येर्यन दूरि दूर्यनय......।

जो कोई उन (परमात्मा) की ओर एक पग बढ़ा है, भगवान उस (जीवात्मा) की ओर दस कदम आतें हैं । जो उनके निकट आना चाहतें हैं वे उन के समीप हैं, जो उन से दूर रहतें हैं वे भी इन से दूर ही रहतें हैं ।

"शवॅलगॅन" में भी शिव और पार्वती के वियोग एवं मिलन का वृत्तान्त कहकर कवि ने आत्मा परमात्मा के एकात्म-भाव का ही रूपक बांधा है । महाकवि काफी विनोदी थे, इस बात का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है । "शवॅलगॅन" में भी कवि के विनोदी स्वभाव की झलक मिलती है । जब श्वेत दाढ़ी वाले और जटा धारी शंकर दूल्हा बनकर आते हैं तो उनका मज़ाक इस प्रकार उड़ाया जाता है :

प्रारुन पजिही क्यूच़काल
वुनि छी फटुनय गोंछुॅवाल
बुजिरस युथ सांग छी कवुॅ ?

अभी (विवाह करने की) कौन सी जल्दी थी, कुछ समय और प्रतीक्षा करते, क्योंकि अभी मूछें भी नहीं फूटी हैं । वृद्धावस्था में यह स्वांग रचने की क्या सूझी है ?

परमानन्द जी भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त हैं; पर वे शिव, राम या अन्य में कोई भेद नहीं मानते हैं । उन के मतानुसार शिव और राम में कोई भेद नहीं है । ये नाम तो उसी सत्य के पर्याय मात्र हैं । वह सत्य—परमात्मा लाखों नामों से अभिहित किये जा सकतें हैं :

राम छुनु अख तय शिव बाखुॅय
कीवल सथ शब्दुक वाखुॅय
लछिनावि लछिबोदि प्रेकारो ।
शम्भु न्यरञजनुॅ न्यरआकारो ।।

महाकवि परमानन्द के काव्य में भाव एवं अर्थ गाम्भीर्य दोनों विद्यमान हैं । इनके काव्य की एक-एक पंक्ति अर्थबोझिल है हालांकि इनके शब्द अतीव साधारण होते हैं । एक उदाहरण का अवलोकन कीजिये :

मरॅनुॅ ब्रोंठुय युस सखरे
रोज्यस नुॅ यमुकें करुञ ग्राव
सुय कस ख्वश यियि सु कस खरे ।—

मरने से पहले ही जो मरने केलिए तैयार बैठा हो, उससे यमकिंकरों का कोई

शिकवा नहीं । वह किसी को न प्रिय लगेगा न अप्रिय ही । वह शत्रु और मित्रों से समान व्यवहार करता है ।

कितनी सारगर्भित हैं ये पंक्तियां ! प्रत्येक पंक्ति तो क्या प्रत्येक शब्द में दर्शन भरा पड़ा है । जितना ही हम इन शब्दों के अर्थ एवं इनके द्वारा अभिव्यक्त भाव की गहराई में जाएँ उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।

परमानन्द जी का भाषा पर पूरा अधिकार है । भाषा स्वयं उनके भावों के पीछे-पीछे चलती है—उनके इशारों पर नाचती है । हाँ, उनकी भाषा संस्कृतमयी है, परन्तु जो शब्द उन्होंने संस्कृत से लिये हैं उनकी कांट-छांट इस प्रकार से की है कि वे कश्मीरी में ठीक बैठे हैं । वे कश्मीरी के अपने शब्द से लगते हैं । मुहावरेदार भाषा के प्रयोग ने महाकवि के काव्य को चार चाँद लगा दिये हैं । महाकवि की कविताओं में यत्र-तत्र कश्मीरी भाषा के मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है । उदाहरणार्थ :

१. **यूत क्याह चिकु॑चाव छुय ल्वकु॑चारुन**
पथ कालि यिथ्य ति कूत्य आ॑सीये
क्वन्जि कर्य कर्थ गोख क्रेन्जि पोञ्ज सारुन ।

२. **च्वोक म्वदुर चलिह्यम वुशुन तु॑ हन्दु॑रो**
शिहिलिथ रोजु॑हा स्वाद प्रा॑विथ—आदि

इन उदाहरणों में क्रमश: १. चिकु॑चाव—उमंग; २. क्वन्जि करञ्जि—बे-सूद काम करना; ३. क्रेन्जि पोञ्ज सारुन - बे-सूद यत्न करना; ४. च्वोक म्वदुर—खट्टा-मीठा, लाभ-अलाभ । ५. वुशुन तु॑ हन्दुर—गर्म तथा सर्द, अच्छा-बुरा; ६. शिहिलिथ रोजुन—आराम से रहना आदि कश्मीरी के मुहावरों का सुन्दर ढंग से प्रयोग हुआ है ।

महाकवि का काव्य प्रवाहमय है । इनके उद्‌गार सीधे हृदय से निकले हुए हैं, अतः मर्मस्पर्शी हैं । इस में अनायास ही अनेक अलंकारों की योजना भी हुई है । यमक, श्लेश एवं आन्तरिक तुक आदि ने उनके भावों एवं भाषा में अतीव सौंदर्य की सृष्टि की है । यमक की छटा देखिये । इस अलंकार ने कवि की कविता-कामिनी का कैसा मनोरम श्रृंगार किया है :

१. **पोशतस दीवु॑कियि लूख आ॑स्य यीवानु॑ ।**
पोश तस पूजि आ॑स्य लागानो ।
पोश तस ज़ि कृष्ण वोपु॑कारकु॑ सन्तानु॑ ।।

२. **फेरन तिमन तिय ज़ि फेरुनि नीयानु॑**
फेरन तवय आसु॑ हैरानो ।।

३. **......पर्वानु॑ मेलियस पर्वानु॑ पर्वा नु॑ ।**

यमक और श्लेष के एक मिले-जुले उदाहरण का भी अवलोकन कीजिये :

त्राहि माम त्राहे मुरा'री
कट संकट ही म्वकटु दा'री !

'कट' शब्द 'काटो' और 'भेड़' के अर्थ में आया है ।

महाकवि की कविता में तुक की अपूर्व योजना है । कभी पंक्तियों के आरम्भिक शब्दों की तुक मिलती है और कभी आंतरिक तुक की मोहिनी कविता में चार चाँद लगा देती है । देखिये :

१. कनव तसुंज़्य कथु बोज़ान ।
मनव तसुंदुय ब्रान स्वरान ।
तनव द्रन पादन मलान ।।

२. खाम द्रसि क्याज़ि याम ताम प्ययि थ्रसे ।
बाम क्युथ खसि तथ बसे नु काँह ।
थ्वसि थ्वसि सारुंनस मोलग थ्वसे ।
असे उँलसे न तुं लसे न कांह ।।

जिस दिन परमानन्द जी को महासमाधि लेनी थी, उस दिन वे प्रतिदिन की भांति सिद्धासन लगा कर बैठे । उन्हें बुखार भी था, पर उन्होंने उस ओर कुछ भी ध्यान न दिया । केवल अपने शिष्यों को अपने से दूर न होने दिया । सिद्धासनस्थ होकर "ॐ" का उच्चारण करते-करते महाकवि समाधिस्थ हुए । उनके शिष्यों ने देखा कि कोई वस्तु उनके ब्रह्माण्ड को भेद कर आकाश में विलीन हो गयी है । यह घटना १८७९ ई० की है । निधन-संवत् का उल्लेख उनके प्रिय शिष्य लक्ष्मण जी 'बुलबुल' ने फ़ारसी में इस प्रकार किया है :

बुलबुल कशीदु नालु ब दिल गुफ्त हांजि दम ।।
बाहोय हाय साज कि गुल्शन खज़ाँ गिरिफ्त ।।

(जिस समय 'बुलबुल' उद्यान में पतझड़ के आने के कारण चीखी, उस समय मेरा दिल दु:ख में डूब गया ।)

● ● ●

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

१. परमानन्द सूक्तिसार — ले० मास्टर ज़िन्दा कौल ।
२. परमानन्द भाग १, २, ३, — ,, ,, ,, ,,
३. Kashir vol. II — By Dr. G. M. D. Sofi.
४. A History of Kashmir — By P. N. K. Bamzai.
५. ज्ञान प्रकाश — प्रकाशक : बी० एन० रैणा एण्ड ब्रदर्स ।
६. रजत जयन्ती ग्रन्थ — ,, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा ।
७. परमानन्द — ले० प्रो० एस० के० तोषखानी ।
८. चतुर्दश भाषा-निबन्धावली — प्रकाशक : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना ।
९. कवि-श्री माला : कश्मीरी-परमानन्द — प्रकाशक : राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा ।
१०. कश्मीरी ज़बान और शायरी — ले० : अब्दुल अहद आज़ाद ।

—एक सॉनेट

हमारा सब का काश्मीर

प्रभाकर माचवे

लल्लेश्वरी, हब्बा ख़ातून, अरणिमाल, परमानन्द
महजूर, आज़ाद, वहाब परे, मास्टर जी
नादिम और अख्तर और कितने कवि शायर हैं स्वच्छन्द
जिनको आज़ादी है लिखें जो हो मरज़ी !

केशर के खेत और शिकारे और कसीदाकाम
दस्तकारियों का गहवारा यह सुन्दर प्रांत
अखरोट–काठखुदाई, नमदे, चाँदी-शिल्प अभिराम
गुलमर्ग, अनंतनाग, शालिमार, डल शांत

चाहे बम बरसे, चाहे आसमां से आग गिरे
चाहे दुश्मनों की यह कोशिश हो कि दिल फट जाएं
तोपों के धुएं से वेरीनाग, वादी के बाग़ घिरे
चाहे मोर्टारगन करती रहे धाएं-धाएं, हदें मिट जाएं
हो नहीं सकता किसी ग़ैर का, सिर्फ एक का; ऐ धीर-वीर !
हिन्दू-मुसलमान-सिख हमारा सबका काश्मीर

•

डोगरी लोकगीत

नीलाम्बरदेव शर्मा

डोगरी लोक-गीतों का नाम लेते ही ऊंचे-ऊंचे पहाड़, उन पहाड़ों की गोदी में लहलहाते छोटे-छोटे खेत, हरे भरे रम्य मैदान, और प्रकृति की गोद में पलने वाले वहां के सरल भोले लोग हमारी आंखों के सामने आ जाते हैं। परन्तु डुग्गर में केवल लहलहाते खेत, रम्य मैदान, मनोरम दृश्य, झर-झर बहते झरने तथा नदी-नाले ही नहीं हैं, वहां कंडी प्रदेश की प्रखर धूप में सूखे खेतों में दिन-रात मेहनत करने वाले किसान भी हैं; अपना और अपने घर वालों का पेट भरने केलिए परदेस में जाने वाले तथा देश की रक्षा केलिए फौज में भरती होने वाले साहसी गबरू जवान भी हैं। ऐसे ही प्रदेश तथा ऐसे ही लोगों की झलक मिलती है हमें डोगरी लोकगीतों में।

लोकगीत लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब होते हैं। इनका जन्म मानव की प्रकृति, उसके वातावरण तथा विविध परिस्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। इसी लिए लोकगीत उतने ही पुराने हैं जितना मानव और उसका यह समाज। यह तो माना जाता है कि कहानी इतनी ही पुरानी है जितना पुराना मनुष्य का इतिहास है परन्तु यह भी एक सत्य है कि लोकगीतों का जन्म कथा-कहानी से भी पहले ही हुआ था। नदियों के मधुर प्रवाह-स्वरों ने, झरनों की कल-कल ने, मेघों के गर्जन तथा पक्षियों के कलरव ने ही मानव के मन में भी संगीत का संचार किया होगा, जो प्रकृति के समान ही संगीतमय होने के साथ ही साथ स्वच्छन्द भी था; जिसमें मानव के स्वाभाविक उद्‌गार-छन्द तथा मात्रा की जंजीरों से मुक्त होकर नैसर्गिक ढंग से प्रकट हुए।

लोकगीतों में छन्दों की अपेक्षा सरल स्वाभाविकता की छटा ही मिलती है। मात्राओं के स्थान पर स्वर को ध्यान में रखा जाता है। आधुनिक कविता में कवि छन्द तथा मात्रा पर

अधिक ज़ोर देता है। कविता की पंक्तियों में निश्चित मात्राओं का होना आवश्यक समझा जाता है। उनके बिना आधुनिक कविता, शैली के ढंग से, अधूरी समझी जाती है। लोकगीतों में कविता का आधार मात्रा नहीं, गति-प्रवाह (time-metre) है। यदि किसी पंक्ति में मात्राएँ निश्चित गिनती से कम हैं, तो उस कमी को बोलने अथवा गाने के ढंग से पूरा किया जा सकता है। लोकगीतों का आधार अक्षर नहीं, शब्द हैं। इसी लिए लोकगीत और संगीत में बहुत गहरा सम्बन्ध है, जैसे शब्द और वाणी का। संगीत अपनी मधुरता के कारण लोकगीतों को नया जीवन, एक नया विस्तार प्रदान करता है, क्योंकि जहां भाषा समझ न आए, भाव स्पष्ट और कलात्मक ढंग से प्रकट न हों, वहां संगीत की मीठी धुन इन सभी त्रुटियों को अपने आवरण में ले कर एक नया रूप दे देती है। यही कारण है लोकगीतों की सर्वप्रियता का। ऐसा लगता है कि संगीत का लोकगीतों की सृष्टि में बड़ा हाथ रहा है। पुरातन लोक-कवि को एक पंक्ति गुनगुनाते जैसे दूसरी पंक्ति भी सूझ गयी हो, जिसमें परिपक्व शैली का अभाव भले ही रहा हो, परन्तु संगीत का नहीं। डोगरी लोकगीतों के विषय में भी यही बात बड़ी आसानी से कही जा सकती है, पहाड़ी संगीत तो अपनी प्यारी-प्यारी धुनों और अपने माधुर्य के कारण सारे देश में प्रसिद्ध है।

लोकगीत मानव के मानसिक जीवन का इतिहास हैं। इनमें संसार के बारे में कुतूहल है और जीवन के प्रति अनुराग। जहाँ विज्ञान बाह्य ढंग से सत्य को खोजने की चेष्टा है वहां लोक-साहित्य मानसिक ढंग से। जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं जो इन गीतों में किसी न किसी रूप में वर्तमान नहीं हो। यह बात केवल डोगरी लोक-साहित्य अथवा लोकगीतों के बारे में ही सच नहीं वरन् संसार के भिन्न-भिन्न लोक-साहित्यों के बारे में भी सच है। लोकगीतों में हमें मानवता के हृदय की धड़कनें सुनाई देती हैं, उसके सुख-दुःख की झलक मिलती है। मनुष्य और प्रकृति मुख्यतया यही लोकगीतों के पात्र हैं; मनुष्य भिन्न-भिन्न रूपों में और प्रकृति समस्त ब्रह्मांड की बाह्य आकृति के रूप में है। इनमें वैज्ञानिक की खोज, अथवा छानबीन करने वाले की पैनी दृष्टि भले ही न मिले, परन्तु मोटे रूप में जीवन तथा संसार के सभी सत्य मिलते हैं। यही इनकी व्यापकता का प्रमाण भी है। लोकगीतों में हमें मानव स्वभाव तथा प्रकृति का एक-सा स्वरूप मिलता है। चाहे लोकगीत संसार के किसी देश अथवा भाग के हों, मानव समाज अथवा जीव-जन्तुओं के बारे में उनके निष्कर्ष सर्वत्र प्रायः एक समान ही हैं, एक दूसरे के विपरीत नहीं।

लोकगीतों का विषय चाहे कुछ भी क्यों न हो और चाहे किसी रूप में भी वह प्रस्तुत क्यों न किये गये हों, वे मुख्यतया जीवन से ही सम्बन्धित हैं। उनको सुनकर किसी प्रदेश अथवा देश के रहने वालों का स्वभाव तथा उनके रीति-रिवाजों के बारे में हमें पता चल सकता है। इनमें लोगों की भाषा, उनके रहने-सहने के ढंग का परिचय मिलता है। उनके सुख-दुःख का वर्णन हमें मिलता है। और इस का नाम लोक-साहित्य केवल इसी लिए नहीं कि यह सामूहिक प्रयासों का परिणाम है, बल्कि इसलिए भी कि यह जन-जीवन का प्रतिबिम्ब हैं, चाहे वह घर की चार दीवारी में बिताया जाये अथवा खेतों में, या फिर प्रकृति के अन्य क्षेत्रों में। लोक-साहित्य की आत्मा एक ही है, चाहे इसके स्वरूप देश तथा

काल के अनुसार बदलते रहे हों। इसमें प्यार और द्वेष, हर्ष और पीड़ा के भाव सारी मानवता के आदि-भाव हैं। इन लोकगीतों में चाहे किसी देश की जनता, उनकी संस्कृति, रहन-सहन तथा रीति-रिवाजों की झलक मिलती हो, परन्तु उनमें मनुष्य की प्रकृति, मानव जाति के स्वभाव तथा मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का परिचय मिलता है। इसलिए लोक-साहित्य अथवा लोकगीतों का मानव जाति के इतिहास में एक विशेष स्थान और विशेष महत्व है।

डोगरी में लोकगीतों-सम्बन्धी तथा साहित्य सम्बन्धी कुछ पुस्तकें छपी हैं: **'इक हा राजा'**, **'डोगरी लोक कथां'**, और **'खारे मिट्ठे अथरू'**, इनके अतिरिक्त **'जागो डुग्गर'**, **'नमीं चेतना'** और डा० कर्णसिंह जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'Shadow and Sunlight' में कुछ प्रसिद्ध डोगरी लोकगीत छपे हैं। इन पुस्तकों के छप जाने से लोगों की डोगरी लोकगीतों के बारे में जिज्ञासा जगी है।

श्री दुनीचन्द 'हमीरपुरी' की पुस्तक **'कांगड़ा के लोकगीत'** तथा एम० एस० रन्धावा द्वारा सम्पादित **'कांगड़ा के लोकगीत'** ने हमारा ध्यान डुग्गर के बाहर कांगड़ा और हिमाचल प्रदेश के लोकगीतों की ओर आकृष्ट किया है। हमें लगा चाहे हम जम्मू में हैं अथवा कांगड़ा में; चम्बा में हैं अथवा धर्मशाला में हमारे रीति-रिवाज, हमारी भाषा, हमारे उद्‌गार एक समान हैं। कुछेक गीत जैसे—'कुञ्जु और चैंचलो', 'भागो और गिलमू', 'पृथीसिंह और इन्द्रदेई' उतने ही हमारे (गीत) हैं—जितने हिमाचल प्रदेश और कांगड़ा के—ये सभी डोगरी लोकगीत हैं। भले ही उनमें स्थान अथवा समय के अनुसार कुछ परिवर्तन आ गये हों।

डोगरी लोकगीत जीवन के हर पहलू से सम्बन्धित हैं। उनमें प्रेमियों का मधुर मिलन है, दुःखद वियोग है। देश पर न्यौछावर होने वालों की वीर गाथाएं हैं। साथ ही मानव के प्रति सद्‌भाव और अनुकम्पा के चित्र भी। ये लोकगीत भावों और उद्‌गारों के विश्व कोष हैं, जिनमें डुग्गर का जन-जीवन रचा हुआ है। ये हमारे समाज तथा संस्कृति की बहुमूल्य निधि हैं, और उनका शानदार वृत्तांत है। संगीत किस भांति हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया है, ये लोकगीत इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जन्म से पूर्व के अवसर से लेकर मरने तक, हर दशा का वर्णन है इन गीतों में। इसी लिए इनका वर्गीकरण कठिन है, क्योंकि एक ही भाव कई रूपों में कई गीतों में पाया जाता है।

डोगरी लोकगीतों में कहीं मुख्यतया लम्बी कविता—'बारां', 'कारकां' और छोटी कविता, गीत, भजन, सुहाग इत्यादि शामिल हैं। योद्धाओं की वीर-गाथाओं से सम्बन्धित गीतों को 'बारां' कहते हैं। उत्साह और जोश से 'दरेस' और 'गारडी' इन्हें गा-गा कर लोगों को सुनाते हैं। क्योंकि ये वीरता और बहादुरी के गीत हैं इसलिए जन-साधारण पर इनका प्रभाव 'कारकां' की अपेक्षा अधिक है। 'कारकां' देवी-देवताओं अथवा न्याय और धर्म के क्षेत्र में कीर्तिमय व्यक्तियों के बारे में गाये जाने वाले स्तुति-गीत हैं। 'बार' और 'कारक' इतनी लम्बी कविता होती है कि उन्हें छोटे महाकाव्य कहा जा सकता है—यद्यपि उनकी शैली महाकाव्य से भिन्न होती है। 'मीयां डीडो', 'बजीर रत्नू', 'गुग्गा', 'रामसिंह' तथा

'रूप-बसन्त' ये 'वारां' काफी प्रसिद्ध हैं। 'बाबाजित्तो', 'दातारणु' (रणपत) तथा 'राजबहूरुल्ल' प्रसिद्ध 'कारकां' हैं।

इन लोकगीतों की निधि को आज के युग में, यहां रजतपट और उद्योगीकरण के कारण हर पुरानी वस्तु अपना मूल रूप खो रही है; बनाये और सम्भाले रखने का दायित्व साहित्यकारों तथा संगीत प्रेमियों पर है। फिल्मी गीतों ने जहां एक ओर संगीत का प्रचार किया, वहां लोकगीतों के साथ अन्याय भी किया। इससे पहले कि फिल्म-संगीत हमारे पहाड़ी-संगीत को नष्ट करके उसे घटिया-सा मिश्रित रूप दे दे, और लोकगीतों की पंक्तियां लेकर कुछ लोग उनको अपनी कविता कहकर यश बटोर लें, इन लोकगीतों को जन साधारण तक पहुँचाना हम सभी का कर्त्तव्य है।

जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं जो इन लोकगीतों से अछूता रहा हो। हम यहां उनका विवरण विषयानुसार करेंगे। संस्कार गीतों में 'विहाई', 'घोड़ी' और 'सुहाग' आते हैं। ये सभी गीत खुशी के सूचक हैं। 'विहाई' कुल में पुत्र जन्म के अवसर पर गायी जाती है। घर में नन्दकुमार का जन्म हुआ है—ऐसे अवसर पर मन खुशी से झूम उठता है :

नन्द घर जरमें कृष्ण मुरार,
बधाबा (बधाई) मेरे राम जी।

अथवा

कुत्थें (कहां) काह्ना जन्म लेआ,
कुत्थें ते बज्जियै बधाई ? (नौबत बजना)

'घोड़ी' लड़के के विवाह पर गाये जाने वाला मंगल-गीत है। इसमें वर के सगे-सम्बन्धियों की खुशी का वर्णन होता है। 'सोहाग' लड़कियों के विवाह पर गाये जाने वाला मंगल-गीत है। हमारे समाज में लड़कियां संकोचवश अपने विवाह की बात खुल कर अपने माता-पिता से नहीं कह पातीं, इसलिए वे लज्जापूर्वक अपने मन की बात कहती हैं :

बागां दे (बागों के) पंछी करदे पानी पानी,
ऐसा बर टोल (ढूंढ) बाबल हानी हानी (हम उमर)
बड्डा (आयु में बड़ा) न टोल बाबल,
मैं आपूं (स्वयं) आणी आणी (अनजान, छोटी)
छोटा न टोल, बाबल!
जेड़ा (जो) कदर न जानी!

लड़की राम सा वर चाहती है, पर वह साँवला न हो। यह कैसे हो सकता है कि लड़की तो गोरी हो और उसका वर साँवला हो। परन्तु उसका पिता उसे समझाता है :

तेरी माता गोरी, पिता साम्वला।

कन्या की विदाई के समय का चित्रण कितना मार्मिक है :

अज्ज परौनी (अतिथि) होई मेरे बावला,

तेरी परौनी, लेरे घरै दी परौनी।

अथवा

आ मेरियें धीए (बेटी) गल्लां करियै,

आई बछोड़े (विछोह) वाली रात।

. . . और कितनी मार्मिक हैं ये पंक्तियां :

बोल नि मेरिए बागें दी कोयले,

बाग छोड़ीं बन की चलिएं ?

बाबल मेरे बचन जे कीता

बचना दी बद्दी (बन्धी हुई) में चलियां।

और वेटी के ये शब्द सुनने वाले के मन को छू लेते हैं :

लाडली न रखो बावल जी,

तुन्दी (आपकी) लाडली दे दिन थोड़े न।

ससुराल में जव उसे अपने मायके की याद आती है। वह अपने गांव के जोगी से कहती है :

बिन्ना (आसन) लै जोगिया,

ब्हेड़े (आंगन) आ जोगिया

मेरे प्योके दी गल्ल सुना जोगिया।

कई वार वर और वधू की आयु में बहुत अन्तर होता है। वधू जवान है लेकिन उसका पति बिल्कुल अन्जान। इसी कारण वह उदास है। परन्तु वह किसी के बहकावे में नहीं आती। वह जानती है कि जो आज छोटा है, कल जवान होगा।

अज्ज निक्का (छोटी आयु का) कल बड्डा, बीबा,

दिनों दिन जोत सोआई (सवा गुना) वे।

और कभी किसी का पति बूढ़ा होता है। वह हंसी तथा खीज के मिश्रित स्वर में कहती है :

बुड्डा बो गल पेआ स्हेलड़ी, बुड्डा।

होरनैं (औरों ने) मारे पिज्जड़-पाड़े,

बुड्डे ने मारेया पिट्टा।

इस गीत का प्रसिद्ध फिल्मी गीत—**मैं का करूं राम, मोहे बुड्डा मिल गया से कितनी** समानता है।

कभी पति अपनी पत्नी को खाने पहनने को नहीं देता, फिर भी रात को अपना

पति होने का अधिकार जताता है :

खाने गी नईं दिन्दा मुआ लाने गी नईं दिन्दा,
सजां (संध्या) गी गलान्दा (कहता) लाड़ी मेरी भलेआ।

इन पंक्तियों में एक स्पष्ट-वादिता है, चाहे कुछेक को अच्छी न लगे, परन्तु इस में कोई कृत्रिमता नहीं है।

जीवन में पुरुष और नारी का पारस्परिक प्रेम उन दोनों केलिए एक बड़ी महत्व-पूर्ण घटना ही नहीं, जीवन का बहुत बड़ा सत्य भी है, जो हमारे नीरस जीवन को अर्थपूर्ण और स्वाभाविक बनाता है। प्रेम में हर वस्तु इन्द्र-धनुष की भान्ति आकर्षक तथा आनन्द-दायक लगती है। कई बार यही प्रेम दुःख का कारण भी बन जाता है :

कपड़े धोआं कन्ने (साथ में, और) रोआं कुञ्जुआ,
मुक्खों (मुख मे) बोल जबानी ओ ।

मिलन के बाद वियोग की घड़ियां शीतल जल के पश्चात् उष्ण वायु झकोरों के समान प्रतीत होती हैं। जीवन सूना-सूना लगता है, बसन्त के बाद पतझड़ की भान्ति :

टुट्टियां प्रीतां हुन पे'न बछोड़े, दिन रेई गे थोड़े,
तुस मौजां करो, मौजां करो मेरी जान :

डोगरी लोकगीतों में मिलन-गीतों की अपेक्षा वियोग-गीतों की संख्या अधिक है। यह स्वाभाविक भी है। जीविका की तलाश में जब पति घर से बाहर चला जाता है, तो नारी को कई एक कठिनाइयों से दो-चार होना पड़ता है। वह दुखिया जी भर आंसू भी नहीं बहा सकती। सास और ननद के डर से चूल्हे में गीले उपले सुलगाकर धूयें के बहाने आंसू बहाने की विवशता है :

गिल्ले गोटे चुल्ली धुखानी,
रोनीआं धुएं दे पज्ज (बहाने) ओ प्यारे।

डुग्गर आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ इलाका रहा है। गबरू जवानों को घरों से बाहर जीविका कमाने जाना पड़ता है। डोगरा जवान अपने प्यार के मुक़ाबले देश भक्ति को महत्ता देते रहे हैं। उनके वियोग में विरहन आत्मा पुकार उठती है :

मियां अलगोज़ुआ, मियां अलगोज़ुआ,
दमरो गी सौगी (संग), लेई जावो साथे।

जे चलेओ तुस नौकरी, चन्ना चाकरी
मेरी चोलड़िया (चोली) लेई जाए ओ ।
जे लग्गै चन्न मंदड़ा (उदासी) मता (अधिक) मंदड़ा,
मेरी चोलड़िया गल लाएओ (गले से लगा लेना)

पति के विदा होते समय पत्नी कहती है :

आपूँ ते चले परदेस,

सिख-मत देई जाएओ बो मेरी जान ।

पति उसे सीख देता है कि वह अपने सास-ससुर की भली-भांति सेवा करे :

सस्सू जी दी करेआं टैह्‌ल,

स्हौरे जी दी हाजरी बो मेरी जान ।

परन्तु कितना सुखद होता है मिलन—विछोह के पश्चात् जब सारी डीकाँ (प्रतीक्षा) समाप्त हो जाती हैं :

औन्दे सपाइयें दियां डीकां जे लग्गियां,
आये नईं प्रीत-चोर सपाईया जी ।
घरेंगी आइयां'न दमैं (धन) दियां बोरियां,
आप नि आए नन्दलाल सपाईया जी ।

कितना यथार्थ चित्रण है । नायक को घर लौटते देख, नायिका अपनी सास के यह कहने पर कि मेरा बेटा बहुत सा धन कमाकर ले आया है, कहती है—"सासजी ! यह क्या कम है कि वह स्वयं आ गये हैं ।

. . . अब मन के कंवल खिल उठते हैं । बिछुड़े मीत मिल जाते हैं :

चन्‌न माढ़ा (मेरा) चढ़ेआ ते तविया (तवी-नदी) दे पार हो
लुट्‌टी लैनी असें (हमने) जिन्दे-जोबना दी बहार हो,
मुक्‌कना (समाप्त होना) बसोस (बछोह) मेरी जान हो,
मिलना जरूर मेरी जान हो ।

घरेलू जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं जिसका वर्णन लोकगीतों में न मिलता हो ।

'भाखां' एक प्रकार का गाने का ढंग है जिसमें गायक इकट्‌ठे मिलकर अपने एक हाथ को कान पर रखकर और दूसरे को हवा में हिलाते हुए एक साथ गाते हैं । एक स्वर से ही शुरू हो कर गाने वालों के स्वर भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जिसको सुनकर पश्चिमी संगीत (Harmony) का स्मरण हो आता है । 'भाखां' छोटे, मध्यम तथा ऊंचे स्वरों में गायी जाती हैं । इनको विषयानुसार नहीं संगीताधार पर 'भाखां' कहा जाता है । और जो त्रुटि छन्द अथवा मात्रा में रह गयी हो उसे गाने के ढंग से पंक्ति के अन्तिम शब्द को '...आ ऽ ऽ ऽ...' अथवा 'ई ... ऽ ऽ ऽ ...' के स्वर से पूरा कर लिया जाता है । इसलिए यद्यपि 'भाखां' की तीन ही किसमें हैं, परन्तु इसके विषय अनेक हैं—प्यार, मिलन, विरह मंगल-संस्कार, देश-भक्ति, भजन इत्यादि ।

जीवन में हर्ष, प्यार और कर्म का बहुत बड़ा स्थान है, परन्तु भक्ति और त्याग के बिना जीवन अधूरा सा लगता है। डोगरी के अनेक लोकगीत भक्ति-रससे परिपूर्ण हैं। जीवन तो मिथ्या है, माया है—इसमें हरिनाम ही सच्चा है ।

छोड़ी देना बो मना छोड़ी देना,

दुनियां संसार असें छोड़ी देना ।

कई एक गीतों में देवी-देवताओं व तीर्थ स्थानों के प्रति गहरी आस्था का आभास मिलता है :

माता दे दरबार जोतां जागदियां,

माता दे दरबार ।

और

हाड़ म्हीनै सुद्ध आई ऐ, पुण्यादा ध्याड़ा (पूर्णिमा के दिन)

अज्ज न्हौंगे गौरी कुण्ड,

कल न्हौंगे नाड़ा (एक झरना)

मार छाली (छलांग) देवका ते पाप टलेआ साढ़ा (हमारा)

और

घा (घास) दै कन्नै (संग) घा रल (मिल) गया,

रह गया फोक नमाना (केवल),

गन्नोराम, छोड़ पिञ्जरा चली जाना ।

ऋतुयें फिर आयेंगी, फूल फिर खिलेंगे परन्तु जाने वाले नहीं लौटेंगे, चाहे वे जन साधारण हों या असाधारण :

पांडव ऋतु फिरी आइयां,

पांडव तुसी नईं मुड़दे (लौटते)

और पीछे रह जाते हैं, केवल मनुष्य के अच्छे कर्म ।

संक्षेप में इन लोकगीतों में समूचे डुग्गर की झलक मिलेगी—जवान दिलों की धड़कनें, मस्ती में झूमते-नाचते युवक-युवतियों की मधुर तानें; बिछुड़े हुए प्रेमियों की आहें और कृत्रिमता से मुक्त-प्रकृति ही की भांति स्वच्छन्द प्यार, जिसमें कोई प्रेमिका झूठी लज्जा और मान-मर्यादा को त्याग कर गा उठती है :

खसम मरै रण्डी रोना, यार मरै कियां (कैसे) जीना हो ।

कुर्त्ता फट्टै सी लैना, अम्बर फट्टै कियां सीना हो ।।

इन पंक्तियों से व्यक्त है वह स्थिति जब प्रेम और विवाह भिन्न-भिन्न वस्तुयें सी लगती हैं। जब प्रेम तो किसी से होता है और विवाह किसी अन्य से, ऐसी स्थिति में यदि पति मर जाए तो कुर्त्ता फटने से अधिक महत्व नहीं रखता—कुर्त्ते की सिलाई हो सकती है अर्थात् दूसरा विवाह भी हो सकता है। परन्तु यदि प्रेमी की मृत्यु हो जाए तो प्रेमिका के लिए यह आघात असह्य है। आसमान ही टूट पड़े तो उसे कैसे जोड़ा जा सकता है ?

कितना यथार्थ चित्रण है। लोक कवि की कितनी ऊंची कल्पना है।

जीवन के सार को प्रकट करते हुए इस लघु लोकगीत के साथ ही में इस लेख को समाप्त करूंगा :

सञां दा (संध्या) बेला (समय का) म्यागा दी त्रेला (प्रातः की ओस में)
गंगा दी छाली (लहरें) कुम्बैं दा बेला,
तेरा मेरा अड़िये, संजोगे दा मेला।



लोकगीतों के शब्दों में लोक-मानसपरक अथवा आदिम प्रवृत्ति के जैसा एक प्रभाव होता है, जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, केवल जिसे अनुभव किया जा सकता है। उसमें आदिम मानवीय भावना के उत्तराधिकरण का एक रहस्य भिदा रहता है। उसमें जैसे एक टोना रहता है। लोकगीत जैसे एक 'दैवी वाक्य' है, जिसका न कोई निर्माता है न स्वर-संधाता। वह जैसे मानव समुदाय में सहज ही स्वयं ही उद्धरित हो उठा है, और बिना प्रयास के सहज ही कण्ठ से कण्ठ पर उतरती हुई अपनी परम्परा स्थापित करता रहा है। वह सामाजिक समुदायी जीवन से सम्बद्ध रहता है, यह भूमि पुत्र है,......वह अपनी विकास-परम्परा में देशकाल से प्रभावित हो, उसके तत्वों को ग्रहण करता हुआ, फिर प्रवृत्तितः उन देश-कालों के प्रभावों संक्रमण करता हुआ, उनकी उपेक्षा करता हुआ, अपनी मूल मानवीय मानसता के सत्व में उन्हें समाहित कर अपनी परम्परा और निरन्तरता बनाता है।

('लोक साहित्य विज्ञान' से)



दो गीत

जानकीवल्लभ शास्त्री

एक

रूप-निर्झर झर रहा है !
मृण्मयी मधु-रस-पगी हैं,
विहँस गगन-शिखर रहा है !!

उठ रही हैं लोल लहरें लालसी
दमकती उद्दाम किरणों में बसी,

उर हुआ सुर-सिन्धु-सा है,—
बिन्दु-बिन्दु निखर रहा है !

नाम-हीन सहस्त्र नामों में खिला,
अलख, अनमिल विकल तिल-तिल में मिला,

उच्छ्वसित होता प्रवासी,
अश्रु-हास बिखर रहा है !

दो

शब्द-भरे गगन, रूप भी भरो,
अर्थ-भरे गहन, सरलता वरो !

नीरव हो भव के शत रव से बंध
हो अरूप सातों रंगों से सघ,

पारदर्शिता जो तुममें होती,
सूर्य-चन्द्र, घर की भी सुध करो !

हो अनन्त अम्बर इस धरती के,
जीवन-रस-वर्षक मरु-परती के,

तेज, जल, समीर के सुलभ आश्रय,
मेरे मन से तो तुम मत डरो !

काकोरी के चार शहीद

मन्मथनाथ गुप्त

भारतीय राजनैतिक गगन में १९१९ में महात्मा गांधी के उदय से पहले स्वतन्त्रता संग्राम के नाम पर जो कुछ था वह क्रान्तिकारी आन्दोलन ही था जिसमें सावरकर, अरविन्द, वारीन्द्र घोष, लाला हरदयाल, अमीरचन्द, पिंगले, शचीन्द्रनाथ सान्याल, सोहनलाल पाठक, एम० एन० राय आदि ने भाग लिया था। महात्मा गांधी के असहयोग मन्त्र के पहले ही बहुत से लोग फांसी पर जा चुके थे और काला-पानी आबाद कर चुके थे। पर आज हम जिन शहीदों की कहानी कहने जा रहे हैं, वे असहयोग आन्दोलन के बाद फांसी पर चढ़े थे।

१९२१ में गान्धी जी ने असहयोग-आन्दोलन चलाया—पर गोरखपुर जिले के चौरीचौरा-काण्ड के कारण जिसमें कुछ पुलिस वाले थाने के अन्दर जला दिये गए थे, अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया। इसलिए जो क्रान्तिकारी १९२१ के जन-आन्दोलन से प्रभावित होकर चुपचाप बैठे थे, वे फिर एक बार चेत गये और तदनुसार फिर क्रान्तिकारी दल खड़ा हो गया। उत्तर भारत में इस दल का नाम 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' पड़ा और इसके नेताओं में शचीन्द्रनाथ सान्याल, रामप्रसाद विस्मिल, विष्णुशरण दुबलिस, सुरेश भट्टाचार्य आदि थे।

दल का उद्देश्य आयरलैण्ड और रूस के क्रान्तिकारियों की तरह अस्त्रशस्त्र तथा गुप्त संगठन के द्वारा भारत में अंग्रेजी राज्य को समाप्त करना था। इस दल का घोषित उद्देश्य भारत में प्रजातन्त्र की स्थापना थी, जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण असम्भव हो। दूसरे शब्दों में दल का उद्देश्य समाजवाद की स्थापना था, पर उस समय तक यह ध्येय बहुत स्पष्ट नहीं हुआ था कि समाजवाद क्या है। बाद को सरदार भगतसिंह, बटुकेश्वरदत्त, विजयकुमार सिंह, आदि के नेतृत्व में जब दल का पुनर्संगठन हुआ, तब समाजवाद की अच्छी तरह परिभाषा की गयी। कुछ भी हो, क्रान्तिकारी आन्दोलन बहुत गौरवमय रहा है, क्योंकि

एक तो संग्रामात्मक आन्दोलन में वह अग्रणी रहा और दूसरे समाजवाद को भी उसने तब अपना ध्येय करार दिया जब देश में समाजवाद का नामलेवा और पानीदेवा कोई नहीं था, जब हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन उत्तर भारत में नाम कर रहा था, तब किसी समाजवादी दल की स्थापना नहीं हुई थी। यह तो हुई विचारों और ध्येय की बात, उपायों में सभी उपाय थे। यह कहना गलत है कि क्रान्तिकारी केवल अस्त्रशस्त्र और हिंसा में ही विश्वास करते थे, जब जो उपाय काम आ जाए वे उसी को काम में लाते थे। यही कारण है कि क्रान्तिकारी जेल में लम्बे अनशन भी रखते थे और यतीन्द्रनाथ दास ने ६२ दिन का अनशन करके अपने प्राण भी दे दिये थे।

१९१४-१८ के महायुद्ध के दौरान क्रान्तिकारियों ने जर्मनों और तुर्कियों से मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध षड़यंत्र किया, जिसमें लाला हरदयाल और उनकी ग़दर-पार्टी तथा स्वामी विवेकानन्द के छोटे भाई डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त की बर्लिन-कमेटी ने बहुत बड़ा काम किया। वह एक रोमांचकारी अध्याय है, जिसका कुछ इतिहास मैंने, क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास में लिखने की चेष्टा की है। उसी जमाने में यानी प्रथम महायुद्ध के जमाने में, मैनपुरी में गेंदालाल दीक्षित ने छात्रों और पेशेवर डाकुओं को संगठित करने का और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनके उपयोग का प्रयत्न किया था। इस प्रयत्न में जो लोग उनके शिष्य के रूप में शामिल थे उनमें रामप्रसाद बिस्मिल भी थे। पर वह पकड़े नहीं जा सके और गांवों में छिपकर साधारण किसान की तरह जीवन व्यतीत करते रहे। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि दो साल के अन्दर ही ब्रिटिश सरकार ने युद्ध-विराम की खुशी में कुछ क्रान्तिकारियों को, जो जेल में बन्द थे, जैसे शचीन्द्रनाथ सान्याल और कुछ फरारों को जैसे रामप्रसाद बिस्मिल, आम माफी दे दी। मैनपुरी षड़यन्त्र के सभी लोगों को छोड़ दिया गया, केवल इटावा के मुकुन्दीलाल को माफी नहीं दी गयी और उन्हें पूरी सजा काटनी पड़ी। बाद को यही मुकुन्दीलाल काकोरी-षड़्यन्त्र में शरीक हो गए और उन्हें आजीवन काले-पानी की सजा मिली। उससे माफी पाकर छूटे, तो १९४२ में फिर कालेपानी की सजा हुई।

मैं तो रामप्रसाद बिस्मिल की बात कर रहा था पर क्रान्तिकारियों की कहानी ऐसी अजीब कहानी है कि इसमें हर जगह शाखें फूटती हैं और एक से एक रोमांचकारी घटना सामने आती जाती है।

रामप्रसाद बिस्मिल ने अपनी आत्मकथा लिखी है, जो तीस साल तक जब्त रहने के बाद प्रकाशित हुई है। उसी का कुछ अंश यह है कि शचीन्द्रनाथ सान्याल, जोगेश चटर्जी आदि के साथ उन्होंने चौरीचौरा के बाद फिर क्रान्तिकारी दल संगठित किया और सारे उत्तर भारत में क्रान्तिकारी साहित्य का प्रचार किया गया, नवयुवक भर्ती किए गये, अस्त्रशस्त्र इकट्ठे किये गए, धन संग्रह किया गया। क्रान्तिकारी दल के इतिहास में एक घटना ऐसी भी है कि एक युवक ने अपने ही घर में डाका डलवा दिया और क्रान्तिकारी एक बड़ी रकम लेकर चले गये। आयरलैण्ड और भारतीय क्रान्तिकारियों की भाषा में इस प्रकार से दल केलिए जो डाके डाले जाते थे, उनका नाम जबरदस्ती चन्दा वसूल करना था। चन्दे की जो असली बात है कि उसका अच्छी तरह उपयोग हो, सो क्रान्तिकारी उस सम्बन्ध में बहुत सचेत रहते थे।

चन्द्रशेखर आज़ाद और कुन्दनलाल आदि घर फूंक कर तमाशा देखने वाले कई क्रान्तिकारियों की मुझे याद है जो सतू खा-खाकर क्रान्तिकारी दल का संगठन करते थे ।

तो इस प्रकार का वह दल था, जिसके नेताओं में रामप्रसाद बिस्मिल थे । रामप्रसाद बिस्मिल का कार्य क्षेत्र शाहजहांपुर था । वहीं पर एक युवक थे अश्फ़ाकउल्ला खां । वह पठान वंश के थे और बहुत सुन्दर तथा हट्टे-कट्टे थे, गोलियां खूब अच्छी तरह चला लेते थे, खिलाड़ी और पहलवान थे, साथ ही थे सदा हंसने वाले । वह हंसते कभी नहीं थकते थे। उन्होंने जीवन को हंसकर ही काट दिया और जब वह बहुत दिनों तक फरार रहने के बाद गिरफ्तार हुए और उन्हें फांसी दे दी गई तो भी उन्होंने हंसकर ही फांसी का फंदा अपने गले में डाल लिया । वह कुछ कविता भी लिखा करते थे । उन्हें फैजाबाद जेल में फांसी हुई। मरने के पहले उन्होंने ये शेर कहे थे :

तंग आकर हम भी उनके
ज़ुल्म और बेदाद से
चल दिये सूए अदम
जिन्दाने फैज़ाबाद से ।

पर यह बाद की बात है, इसी शाहजहांपुर में एक तीसरे व्यक्ति थे ठा० रोशनसिंह । वह गांव के रहने वाले थे और अपने प्रारम्भिक जीवन में डाकूओं की सोहबत में पड़ गये थे, बाद को वह असहयोग आन्दोलन में आ गये और उसके बाद क्रान्तिकारी आन्दोलन में आये, तो पुरानी बातें सब छूट गयीं । डाकू से वह क्रान्तिकारी हो गये जैसे सैंकड़ों वर्ष पहले एक डाकू भारत का आदिकवि बन गया था । उनको फांसी का खतरा नहीं था, फिर भी जज ने शायद इसलिए फांसी दी कि तुम डाकू बने रहते तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कोई आपत्ति नहीं थी, पर तुम डाकू से क्रान्तिकारी क्यों बने ? उनको इलाहाबाद के मलाका जेल में फांसी हुई ।

काकोरी-षड्यन्त्र में चौथे फांसी पाने वाले व्यक्ति राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी थे । यह काशी के रहने वाले थे और अभी-अभी एम० ए० पास कर चुके थे । वह शचीन्द्रनाथ सान्याल के प्रभाव में पड़कर, विशेषकर उनकी पुस्तक 'बन्दी जीवन' (अब यह पुस्तक हिन्दी में प्राप्त है) पढ़कर क्रान्तिकारी बने । वह बहुत कोमल प्रकृति के व्यक्ति थे और अच्छे खाते-पीते परिवार से आये थे । उनका अशान्त मन सान्याल-परिवार के सम्पर्क में आकर एकदम उफ़न उठा और वह काशी-केन्द्र के क्रान्तिकारी इंचार्ज बनाए गये । इस युग के संगठन में विशेषकर काशी और शाहजहांपुर के लोग ही शहादत में प्रमुख रहे । यदि शाहजहांपुर ने तीन क्रान्तिकारियों को फांसी के तख्ते पर भेजा तो काशी ने भी राजेन्द्र लाहिड़ी को फांसी पर भेजा, और साथ ही चन्द्रशेखर आजाद यहीं के साथी थे । बाद को चलकर वह पुलिस की गोलियों से इलाहाबाद में शहीद हुये । इसी काशी का मार्कण्डेय हरेन्द्र भट्टाचार्य और मनमोहन गुप्त के साथ भयानक बम लेकर साइमन कमीशन को उड़ाने के लिए बम्बई गये थे और मनमाड़ के पास उसके बम फट गये जिसमें मार्कण्डेय शहीद हो गये । काशी से ही संगठनकर्ता शचीन्द्रनाथ बख्शी फांसी पा गये और वहां क्रान्तिकारियों का एक बहुत विशिष्ट गुट बना जिसमें अध्यापक भगवानदास

माहौर, सदाशिव मलकापुर और रायपुर निवासी विश्वनाथ वैशम्पायन क्रान्तिकारी आन्दोलन में बहुत मशहूर हुये। भगवानदास की पुस्तक 'यश की धरोहर' एक विशेष पुस्तक है जिसमें सरदार भगतसिंह और उनके साथी बटुकेश्वरदत्त, राजगुरु, सुखदेव, विजयकुमार सिंह आदि पर विशेष रोशनी पड़ती है।

अब थोड़े शब्दों में बता दिया जाए कि ये चार शहीद—रामप्रसाद बिस्मिल, अश्फ़ाकउल्ला, रोशनसिंह और राजेन्द्र लाहिड़ी काकोरी के शहीद क्यों कहलाये। काकोरी लखनऊ के पास एक कस्बा है। १९२५ के ९ अगस्त को इसी के पास आठ नम्बर डाउन ट्रेन रोककर क्रान्तिकारियों ने यहां पर रेल का खजाना लूट लिया था। मौके पर कोई गिरफ्तारी नहीं हुई, पर बाद को एक बहुत बड़ा षड्यन्त्र चला जिसमें उक्त चार क्रान्तिकारियों को फांसी हुई और शचीन्द्रनाथ सान्याल को कालेपानी, लेखक को चौदह साल की और जोगेश चटर्जी, मुकुन्दीलाल, गोविन्दचरण कार, राजकुमार सिंह, रामकृष्ण खत्री को दस-दस साल की सजा हुईं। विष्णुशरण दुबलिस और सुरेश भट्टाचार्य को सात-सात साल, भूपेन्द्र सान्याल, राम दुलारे द्विवेदी और प्रेमकृष्ण खन्ना को पांच-पांच साल की सजा हुई। चन्द्रशेखर आजाद, मुरारी शर्मा और कुन्दनलाल गिरफ्तार नहीं किये जा सके। शचीन्द्रनाथ बख्शी को अलग मुकदमे में आजन्म कालेपानी की सजा हुई। बाद के कई दण्डितों की सजा बढ़ा दी गई।

इन चारों शहीदों को फांसी के तख्ते से बचाने के लिए बड़ा भारी आन्दोलन हुआ, पर ब्रिटिश सरकार नहीं मानी और १७ दिसम्बर, १९२७ को राजेन्द्र लाहिड़ी को और १९ दिसम्बर को बाकी तीन क्रान्तिकारियों को फांसी पर चढ़ा दिया गया। कई बार फांसी की तारीख टाल दी गयी थी। इससे यह आशा बन्धी थी कि शायद अन्त तक जनमत के सामने ब्रिटिश सरकार झुके, पर वह नहीं मानी। इतिहास की दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि यह अच्छा ही रहा। वे फांसी पर चढ़कर इतिहास में अमर हो गये। उस युग में जो बड़े-बड़े नेता थे उनमें से बहुतों का नाम भुला दिया गया है पर ज्यों-ज्यों दिन जा रहे हैं, शहीदों की ख्याति का वोल्टेज और बढ़ता जा रहा है। सच तो यह है कि वर्तमान समय में इनकी स्मृति हमारे लिए एक बहुत ही अनुप्रेरणा देने वाली स्मृति है। उससे जीवन की किरणें उसी प्रकार से फूट कर चारों तरफ दौड़ती हैं जैसे अणु बम से मृत्यु की किरणें।

हम दिखा चुके कि क्रान्तिकारी विचारों में कितने आगे थे पर अभी उनके सपने का भारत नहीं आया, पर वह आएगा, अवश्य आएगा। रामप्रसाद बिस्मिल ने फांसी के तख्ते पर चढ़ते हुए कहा था :

मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे,
बाकी न मैं रहूं न मेरी आरजू रहे।
जब तक कि तन में जान, रगों में लहू रहे
तेरा ही जिक्र या तेरी ही जुस्तजू रहे।

उन्होंने फांसी चढ़ने से पहले एक चिट्ठी में भी ये भाव व्यक्त किये थे :

यदि देश हित मरना पड़े मुझ को सहस्रों बार भी,
तो भी न मैं इस कष्ट को निज ध्यान में लाऊं कभी।

हे ईश ! भारतवर्ष में शत बार मेरा जन्म हो,
कारण सदा ही मृत्यु का देशोपकारक कर्म हो ।
मरते 'बिस्मिल' रोशन लहरी, अश्फ़ाक अत्याचार से,
होंगे पैदा सैंकड़ों उनके रुधिर की धार से ।
उनके प्रबल उद्योग से उद्धार होगा देश का,
तब नाश होगा सर्वदा दुख लवलेश का ॥

सचमुच त्याग कभी व्यर्थ नहीं जा सकता । स्वतन्त्र भारत अपने शहीदों को कभी नहीं भूला सकता चाहे वे स्वतन्त्रता संग्राम के शहीद हों या हमारी सीमा के रक्षक सैनिक शहीद हों ।

★

...एक कौतूहलवर्धक घटना मुझे याद है, जिसने हिन्दुस्तान के आतंकवादियों का आंतरिक परिचय मुझे कराया । मेरे जेल से छूटने के पहले ही या पिता जी के मरने के पहले या बाद यह घटना हुई । हमारे स्थान पर एक अजनबी मुझ से मिलने आया । मुझसे कहा गया कि, वह चंद्रशेखर आज़ाद है । मैंने उसे पहले कभी नहीं देखा था । हाँ, दस वर्ष पहले हमने उसका नाम जरूर सुना था जब कि, १९२१ में असहयोग-आंदोलन के जमाने में स्कूल से असहयोग करके वह जेल गया था । उस समय वह कोई १५ साल का रहा होगा और जेल के नियम भंग करने के अपराध में उसे बेंत लगवाये गये थे । बाद को उत्तर भारत में वह आतंकवादियों का एक मुख्य आदमी बन गया ।

...वह मुझसे इसलिए मिलने को तैयार हुआ था कि हमारे छूट जाने से आमतौर पर ये आशायें बँधने लगीं कि, सरकार और कांग्रेस में कुछ-न-कुछ समझौता होने वाला है । वह मुझसे जानना चाहता था कि, अगर कोई समझौता हो, तो उसके दल के लोगों को भी कुछ शांति मिलेगी या नहीं ? क्या जगह-जगह उनका पीछा इसी तरह से किया जायगा ? उनके सिरों के लिए इनाम घोषित होते रहेंगे और फाँसी का तख्ता हमेशा लटकता रहा करेगा या उनके लिए शांति के साथ काम-धंधे में लग जाने की भी कोई सम्भावना होगी ?...उसने पूछा कि, अगर मुझे शांति के साथ जमकर बैठने का मौका न दिया जाय, रोज-रोज मेरा पीछा किया जाय, तो मैं क्या करूंगा ?

...मैंने चन्द्रशेखर आजाद को अपना राजनीतिक सिद्धान्त समझाने की कोशिश की और यह भी कोशिश की कि वह मेरे दृष्टि-बिंदु का कायल हो जाय । लेकिन उसके असली सवाल का कि, 'अब मैं क्या करूं ?' मेरे पास कोई जवाब न था । —श्री जवाहरलाल नेहरू 'आत्मकथा' में

(संकलन : अमरीक सिंह)

डिग न जाऊं मैं

राजेश्वरप्रसाद सिंह

चरण-चिन्हों पर
तुम्हारे
चल रहा मैं,
किन्तु फिर भी
डगमगाते
पांव क्यों मेरे
कभी
जाने-अजाने ?
डिग न जाऊं
मैं कहीं,
मन भ्रांत शंकित !
मार्गदर्शन
प्रेरणामय,
किन्तु
कांटों से
भरा पथ,
और मैं
अनभिज्ञ, अनुभवहीन !
नियमों के
कठिन प्रतिबंध,
कारागार मानो,
और मैं
उन्मुक्त मन का,
किन्तु चलता
चल रहा
संयम, नियम की
परिधि में,
विशवस्त
अपनी आस्था में !
तुम जहां हो,
वहां भय क्या ?

खंडहर

अयूब 'प्रेमी'

मृतक पिशाच समान
शून्य स्तब्धता—
मेरे कमरे की दीवारों से
रोज़ डराती, मुझे डराती आती है।
तभी भास होता है तन-रोमावलि को
क्षण-क्षण में कोई फुसफुसा
शाँत हो जाता है।
अंधकार में
उसकी ही गहराई से
कुछ वीभत्स विचार
उभरते आते हैं,
जैसे उठते आते
किसी क़ब्र में से—
दाँत निकाले, श्वेत कफ़न में प्रेत यहाँ।
और।
तभी ऊंची मीनार चेतना की
घने कुहासे से घिर जाती है सहसा।
कुछ मध्याह्न-रश्मियाँ।
जल कर ख़ाक हुई,
उनकी पर्तें जमी जा रहीं
खंडहर पर।
खंडहर पर !
हर शाम यहाँ मनहूस दिखाई देती है,
और अंधेरा बढ़ते ही कुछ छायायें !
रोज़ विचरती रहतीं
इसी खंडहर में,
खंडहर ?
जो मैं ही तो हूँ !
एक व्यक्ति और समष्टि भी।

युगप्रवर्तक कश्मीरी आलोचक—मम्मट

डा० रामप्रताप, एम० ए०, पी० एच० डी०

जब कोई विचारक या तो किसी सर्वथा मौलिक सिद्धान्त की स्थापना करता है अथवा अपने से पूर्ववर्ती किसी सिद्धान्त विशेष में समुचित संशोधन, और परिष्कार करके उसे नया और प्रभावशाली रूप दे देता है तो उस समय के विचारों में एक नई सी क्रान्ति आ जाती है। परिणामत: चिन्तन जगत् में एक नया युग आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार के असाधारण प्रतिभाशाली चिन्तकों को युगप्रवर्तक कहा जाता है। कश्मीर के आचार्य मम्मट ने भी संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन युग का प्रवर्तन किया है। इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उन्हें यद्यपि पूरी तरह नया नहीं माना जा सकता, परन्तु आचार्य ने अपने समय में प्रचलित कतिपय अत्यन्त विवादास्पद विषयों को लेकर उन्हें अत्यन्त परिष्कृत करके नूतन रूप प्रदान किया है। अपने इन विचारों की पुष्टि में इन्होंने जो तर्क उपस्थित किये हैं वे बड़े हृदयग्राही एवं अकाट्य हैं। अपनी इन विशेषताओं के कारण संस्कृत आलोचना शास्त्र में आचार्य मम्मट का अद्वितीय स्थान है।

कश्मीरी आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनि सम्प्रदाय के समर्थकों और पोषकों में मम्मटाचार्य सबसे उच्च और अग्रणी माने जाते हैं। काव्यप्रकाश की लोकप्रियता तथा प्रभाव को देखते हुए इस बात का पूरी तरह विश्वास हो जाता है कि ध्वनिप्रतिष्ठापक परमाचार्य मम्मट के इस ग्रन्थ का ध्वनिसम्प्रदाय की जड़ें जमाने में सबसे अधिक योगदान है। डा० सुशीलकुमार डे ने इस ग्रन्थ की दो मुख्य विशेषतायें बताई हैं १. सूत्रशैली और २. सम्पूर्णता[1]। इन दोनों गुणों के समुचित सामञ्जस्य के कारण इस ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती काव्यशास्त्र

1. History of Sanskrit Poetics : Dr. Sushil Kumar (Second Revised Edition 1960.) Page 218

सम्बन्धी विचारों का संग्रह तो मिलता ही है परन्तु इसके साथ-साथ इस ग्रन्थ ने अनेक उत्तरवर्ती विद्वानों को इसके आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने को प्रेरित किया अथवा उन्होंने इसकी उपयोगिता से प्रभावित होकर दूसरों को लाभान्वित करने के लिए इस ग्रन्थ पर टीकायें लिखीं। आचार्य विश्वनाथ ने अपना 'साहित्यदर्पण' ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' के आधार पर लिखा है और माणिक्य चन्द्र, सरस्वती तीर्थ, जयन्तभट्ट और वामनाचार्य आदि विद्वानों ने इसके ऊपर ५० से अधिक टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार डा० पी० वी० काणे के शब्दों में यह ग्रन्थ "एक ऐसा उद्गम स्रोत रहा है जिसमें से अनेक नवीन सिद्धान्त रूपी मधुर जलधारायें निकली हैं।"[1]

काव्यप्रकाश का समय १०५० ई० से ११०० ई० के बीच में माना जाता है। आचार्य मम्मट से लगभग १२०० वर्ष पहले से यह विवाद बड़े उग्र रूप में चला आ रहा था कि काव्य में ऐसा कौन सा विशेष तत्त्व है जो उसे मन को उबा देने वाले प्रभावहीन इतिहासादि विषयों से पृथक् करता है। भामह और दण्डी सदृश मनीषियों ने अंलकारों को काव्य का प्राणप्रद धर्म बतलाया तो वामन और कुन्तक ने रीति और वक्रोक्ति को। परन्तु इन विद्वानों के मत इस समस्या का पूर्ण समाधान नहीं कर सके। इन मतों में कुछ न्यूनता अनुभव की जाती रही। परन्तु जब आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में बड़े रोचक ढंग से रसध्वनि को काव्य का प्रधान अर्थात् जीवनाधायक अपरिहार्य तत्त्व बतलाया और अपने पक्ष की पुष्टि में एक से एक प्रबलतर युक्तियों को उपस्थित किया तो यह विवादास्पद विषय बहुत परिष्कृत होकर एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में बदल गया। इस प्रकार इस सिद्धान्त के स्थापित होने से एक सहस्र से भी अधिक वर्षों से चले आ रहे सन्देह ने यथार्थ ज्ञान का स्वरूप ग्रहण किया। मम्मट ने अपने इस काव्य के समस्त घटक तत्वों को निम्न दो कारिकाओं में अंकित कर दिया है :

ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥[2]

जैसे किसी मनुष्य की आत्मा के भीतर शूरता आदि धर्म रहा करते हैं वैसे ही काव्य के आत्मभूत तत्त्व इसमें उत्कर्ष को बढ़ाने वाले तथा अनिवार्य रूप में रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं। जो तत्त्व उस रस की कभी-कभी शोभा बढ़ाया करते हैं वे अलंकार कहलाते हैं। जैसे मानव शरीर की शोभा अलंकारों से और बढ़ जाती है वैसे ही उपमा अनुप्रासादि अलंकारों के द्वारा काव्य की शोभा में वृद्धि हो जाती हैं। इस प्रकार मम्मट ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानकर रस को काव्य की आत्मा माना है और अलंकार और गुणों को काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है। आधुनिक भारतीय काव्यशास्त्र ने भी काव्य के इन घटक तत्त्वों में गौणप्रधान भाव उसी रूप में माना है जिस रूप में उनका

1. History of Sanskrit Poetics : P. V. Kane, Page 255, (1951 Edition.)
2. **काव्यप्रकाश ८,६६–६७**

मम्मटाचार्य ने प्रतिपादन किया है।

किसी काव्य को पढ़ते समय अथवा किसी नाटक को देखते समय सामाजिक के हृदय में रस की प्रतीति कैसे होती है इस प्रश्न का सर्वप्रथम उत्तर भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में दिखाई पड़ता है। 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'[1] इस सूत्र द्वारा उन्होंने बताया है कि जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का स्थायिभाव के साथ संयोग होता है तो रस का प्रादुर्भाव होता है। इसी के साथ उन्होंने रस का अलौकिक स्वरूप बताते हुए दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार अनेक वस्तुओं से मिलकर बनने वाली औषधि का आस्वाद तथा गुण कुछ और ही प्रकार के होते हैं उसी प्रकार विभावादि जब स्थायिभाव के साथ संयुक्त हो जाते हैं तो उनका स्वरूप अलौकिक हो जाता है[2]। इसी प्रकार नाट्य में रस से बढ़कर और दूसरा पदार्थ नहीं है यह मत भी भरत को अभीष्ट था[3]। भरतमुनि के अनन्तर रस विषयक इन उत्कृष्ट विचारों की नवम शती के अन्त में पदार्पण करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन से पहले तक काव्यशास्त्र के आचार्यों के द्वारा उपेक्षा की गयी। सप्तम शती तक तो काव्य के सिद्धान्तों के विषय में विचार ही नहीं किया गया और उसके बाद जब भामह, दण्डी, रुद्रट और कुन्तक सरीखे विद्वानों ने विचार करना आरम्भ किया तो उन्होंने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अलंकार रीति और वक्रोक्ति को ही काव्य में सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया और काव्य में रस की आवश्यक और प्रधान स्थिति नहीं स्वीकार की। इतने दीर्घकाल के अनन्तर सबसे पहले आनन्द वर्धन ने ही बताया कि काव्य की आत्मा ध्वनि है[4] और इस ध्वनि में भी जो प्रतीयमान अर्थात् व्यञ्जनागम्य ध्वनि है। जिस प्रकार सुन्दरियों का सौन्दर्य उनके समस्त अवयवों से पृथक् दिखाई देता हुआ सहृदय नेत्रों के लिए अमृत तुल्य और ही तत्त्व है इसी प्रकार यह ध्वनि (रसध्वनि) तत्त्व अलौकिक होता है।[5] इसके बाद आचार्य अभिनवगुप्त ने 'भरत नाट्यशास्त्र' की 'अभिनव भारती' टीका में रसनिष्पत्ति विषयक भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए अपने समय में प्रचलित भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक तथा भट्टनायक के सिद्धान्तों को रखकर उन्हें अस्वीकार कर अपने मत की स्थापना की। आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के सिद्धान्तों का अपने ग्रन्थ में समावेश किया। उन्होंने आनन्दवर्धन की अपेक्षा और भी प्रबलतर युक्तियाँ देकर ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की तथा अभिनवगुप्त की अभिनव भारती टीका के 'रसनिष्पत्ति सिद्धान्त' के प्रकरण में जिन आचार्यों के मतों का उल्लेख है उनके मतों को और परिमार्जित कर काव्यप्रकाश में रखा है। अभिनवगुप्त के मत को भी और युक्तियुक्त बनाकर परिष्कृत कर दिया है। इस प्रसंग में रस का जो अलौकिक स्वरूप 'काव्य प्रकाश' में दिखाया गया है[6], वह इतने प्रभावपूर्ण रूप में इनसे पहले के किसी आचार्य की कृति में उपलब्ध नहीं होता है। आधुनिक विद्वान् भी रस के स्वरूप को अलौकिक ही मानते हैं।

---

1. भरत नाट्यशास्त्र १,३१ गद्य भाग
2. वही गद्य भाग
3. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
4. ध्वन्या लोक १, १
5. ध्वन्यालोक १,४
6. काव्यप्रकाश ४, २८ के नीचे गद्य भाग

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मम्मट की सर्वोपरि विशेषता उनकी सर्वांगीणता है। मम्मट ने उत्तमकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुन: क्वापि[1]। दोषों से रहित, गुणयुक्त और साधारणतया अलंकार सहित परन्तु कहीं-कहीं अलंकार विहीन शब्द और अर्थ इन दोनों का मिला हुआ रूप काव्य कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार उत्तम काव्य में तीन विशेषतायें होनी चाहिए—१ शब्द और अर्थ दोनों दोष रहित हों। (२) वे दोनों सगुण अर्थात माधुर्य आदि गुणों से युक्त हों। (३) सामान्यत: उनमें अलंकारों का भी समावेश हो परन्तु कहीं-कहीं अलंकारों की अनुपस्थिति में भी वे शब्द और अर्थ काव्य कहे जा सकेंगे परन्तु इस अवस्था में उनके अन्दर रस की स्थिति अनिवार्य है। यद्यपि इस लक्षण में मम्मट ने स्पष्ट रूप से रस की अनिवार्य स्थिति किसी शब्द को रखकर नहीं बताई है तथापि उनके सारे ग्रन्थ को पढ़ने से यही ज्ञात होता है कि 'काव्य में रस ही प्रधान होता है' इस सिद्धान्त में उनकी पूर्ण निष्ठा थी इसलिए उन्होंने इस लक्षण में 'रस' पद रखने की आवश्यकता नहीं समझी। यह बात इनके अलंकार विरहित कविता को रसयुक्त होने की स्थिति में उत्तम काव्य का पद मिल जाता है, इस मत की पुष्टि के लिए दिये गये उदाहरण के बाद 'अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकार:। रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता[2]।' इस वाक्य से स्पष्ट हो जाती है। मम्मट से पहले भामह का 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्,[3] वामन का रीतिरात्मा काव्यस्य[4], और कुन्तक का 'शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि। बन्धे..... [5]', लक्षण जब दिखाई पड़ता था तो सामाजिक दिग्भ्रान्त थे कि कौन सा लक्षण ठीक है परन्तु मम्मटाचार्य का काव्यलक्षण अते ही अलंकार-शास्त्र में सारे विवाद समाप्त हो गये और मम्मट का काव्य लक्षण ही निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया। मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' में नाट्यशास्त्र को छोड़कर काव्य के समस्त पहलुओं पर विचार किया है। भामह और दण्डी के ग्रन्थों में शब्दशक्तियों, रसों और ध्वनि के विषय में कोई विचार नहीं है। उद्भट ने केवल ४१ अलंकारों का वर्णन किया है यही बात अप्पयदीक्षित के ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' में दिखाई देती है। वामन ने रीति, गुण, दोष और अलंकारों का तो विवेचन किया है परन्तु रसतत्त्व की उपेक्षा की है। रुद्रट ने काव्य लक्षण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, दस प्रकार के रस तथा नायक नायिका भेद तो बतलाये हैं परन्तु उनके ग्रन्थ में शब्द शक्ति, ध्वनि आदि की विवेचना का अभाव है। आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में केवल ध्वनि का ही प्रतिपादन है। काव्य के अन्य अंगों पर वहां प्रकाश नहीं डाला गया है। 'भरत नाट्यशास्त्र' के टीकाकार अभिनव गुप्त ने छठे अध्याय की टीका करते हुए रस सूत्र के व्याख्याता भट्टलोल्लट के सिद्धान्त को दिखाते हुए अपना भी मत दिखाया है। आचार्य मम्मट ने इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों का सार ग्रहण करके संक्षेप से अपने ग्रन्थ में सजाकर रख दिया है। इस प्रकार काव्यप्रकाश में जो विविध आलोचना पद्धतियों का सुन्दर समन्वय हैं वह किसी पूर्ववर्ती आचार्य के ग्रन्थ में नहीं दिखाई देता।

---

1. काव्यप्रकाश १, ४
2. काव्यप्रकाश १, ४ गद्यभाग
3. काव्यालंकार १, १६
4. काव्यालंकार सूत्र १, १;
5. वक्रोक्ति जीवित १, १

भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक आदि सम्प्रदाय विशेष के अनुयायी तथा कुछ सीमा तक मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने वाले आचार्यों की पंक्ति में आचार्य मम्मट को स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि आचार्य मम्मट ने अपना कोई नया सम्प्रदाय नहीं चलाया है। परन्तु इन आचार्यों की कतार से बाहर आचार्य मम्मट अपने समन्वयवादी तथा निभ्रन्ति दृष्टिकोण को लिए हुए जहाँ खड़े हैं वहां कोई दूसरा आचार्य उनके साथ खड़े होने की क्षमता नहीं रखता। इस कारण काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य मम्मट की स्थिति दूसरे आचार्यों से पृथक् है और इनके निभ्रन्ति सिद्धान्त युग-युगों तक काव्यशास्त्र के अन्धेरे पथ में भटकने वाले मनीषियों के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते रहेंगे।



मेरा काम समालोचना करना है !

मैं बोली—"अबकी बार जब कौंसिल का चुनाव हो तो आप खड़े हो जाइए।"

तब आप (मुंशी प्रेमचन्द) बोले—"मुझे नहीं खड़ा होना है। मैं इसी में अच्छा हूं।"

मैं बोली—"क्यों ? खड़े होने में क्या नुक़सान है। आप कांग्रेस की तरफ से खड़े हो जाइए।"

आप बोले—"मेरे जीवन का ध्येय कौंसिल में जाने का नहीं है।"

मैं बोली—"तुम्हारे जीवन का ध्येय क्या है ?" तब आप हंसते हुए बोले—"मेरा काम कौंसिल में काम करने वालों की समालोचना करना है।"

श्रीमती शिवरानी लिखित
('प्रेम चन्द घर में' से साभार)



कश्मीरी लोकगीतों में प्रकृति-चित्रण

जवाहरलाल हण्डू

मानव और प्रकृति का सम्बन्ध अनादिकाल से अविच्छिन्न रहा है। सृष्टि के उषा-काल में जब आदिमानव ने अपने नेत्र खोले होंगे तो उस को सर्वप्रथम प्रकृति का ही सहचार्य और सहयोग प्राप्त हुआ होगा। इस प्रकार प्रकृति मानव की आदि सहचरी है। दृश्य प्रकृति मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को घेरे हुई है। साहित्य, विज्ञान, धर्म, कला इत्यादि सभी मानव चिन्तन-धाराएं प्रकृति को समझने, इसे परखने, इसकी रहस्यात्मकता को जानने के ही प्रयास हैं।

साहित्य में प्रकृति का विशिष्ट स्थान है। प्रकृति के निगूढ़तम रहस्यों को जानने, परखने, इसके सुन्दर एवं असुन्दर पक्ष की व्याख्या एवं तुलना करने का श्रेय साहित्य को है। वैदिककाल से लेकर आज तक का सम्पूर्ण भारतीय-साहित्य इसका साक्षी है।

लोक-साहित्य साहित्य से अभिन्न है, अतः इसमें भी प्रकृति का वही रूप दृष्टिगोचर होता है जो लिखित-साहित्य में, बल्कि इस साहित्य के कई स्थल तो लिखित-साहित्य से भी अधिक आकर्षक एवं महत्वपूर्ण हैं। जिस प्रकार साहित्य प्रकृति के दोनों सुन्दर एवं असुन्दर पक्षों को लेकर चलता है, उसी प्रकार लोक-साहित्य, विशेषकर लोक गीतों में भी प्रकृति के सभी रूपों का वर्णन रहता है।

कश्मीरी लोकगीतों में, अन्य भारतीय लोकगीतों की भांति साधारण मानव जीवन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हुई है, परन्तु प्राकृतिक सौंदर्य की जो अजस्त्र धारा यहां के लोकगीतों में बहती चली आ रही है, वह इन्हें लोक-साहित्य के क्षेत्र में एक अलग, श्रेष्ठ स्थान प्रदान करती है। प्रकृति के ऐसे आत्मविभोर कर देने वाले अद्वितीय चित्र शायद ही किसी अन्य भाषा के लोकगीतों में प्राप्त हों। प्रकृति के सभी रूपों का समावेश यहाँ के गीतों में हुआ है। किसी

चतुर कलाकार के विभिन्न रंगों से रंगे चित्रों से भी अधिक सूक्ष्म एवं आकर्षक प्राकृतिक-चित्र प्रस्तुत करते हैं यहां के लोकगीत । ऐसे गीतों में जहाँ कोयल की कूक है वहाँ शेर की गर्जन भी है, जहां खिलते गुलाब की मुस्कान है वहां तीखे कांटे का वर्णन भी, जहाँ वसन्त की मधुरिमा है, वहां शीत की कटुता भी । तात्पर्य यह कि प्रकृति के किसी भी रूप को अछूता नहीं रखा गया है ।

सामान्यत: कश्मीरी लोकगीतों में प्रकृति चित्रण चार रूपों में हो पाया है । १. आलम्बन रूप में (सुन्दर-असुन्दर दोनों) २. उद्दीपन रूप में ३. प्रतीकात्मक रूप में ४. मानवीकरण रूप में । इसके अतिरिक्त कभी-कभी उपदेशात्मक, बिम्बप्रतिबिम्ब, पृष्ठभूमि, इत्यादि कई और रूपों में भी प्रकृति-चित्रण इन गीतों में देखने को मिलता है, परन्तु यहां पर उनकी परिगणना पृथक रूप से न करके उपरोक्त विभाजन में ही होगी ।

१. आलम्बन रूप अथवा यथातथ्य रूप में प्रकृति-चित्रण । इस रूप में प्रकृति का नितान्त, शुद्ध वर्णन रहता है, जो लोक-कवि केलिए साधन न बनकर साध्य बन जाता है । उदाहरणार्थ :

गुलाब के फूल के खिलने से लोककवि का मन विभोर हो उठता है । पुष्प का सौंदर्य उसका मन हर लेता है वह गा उठता है "हे गुलाब ! तेरा वर्ण सूर्य की भांति लाल है । तू नहीं, सूर्य खिला है । तुम में सौंदर्य की गरिमा है । विकास की चौंध है । बसन्त का तू प्रतीक है, चर्मोत्कष है । तेरी सुवास से मस्तिष्क ताज़ा हो जाता है :

कति फोलहोम लो गुलाबो लो,
गुलाबो आफताबो लो,
कति फोलहोम लो गुलाबो लो ।

फोलान दिल च्यनि नूरअनी,
आसान च्योन गोचंअ दहअनी,
बहारिक आब -ो- ताबो लो,
कति फोलहोम लो गुलाबो लो,

हरान छय मुश्क मन्ज बागस,
करान क्याह ताज़अ देमागस,
फोलवुनि माहताबो लो,
कति फोलहोम लो गुलाबो लो ।

न्यूनम दिल चअन फोलवुनि रोय,
वज़ुल जामअ बदन खुशबोय,
वुच्छुन ़च कुन तवाबो लो,
कति फोलहोम लो गुलाबो लो ।।

एक और उदाहरण प्रस्तुत है :

वसन्त आया । बुलबुल चहकने लगे । झरनों में पानी बहने लगा । जाड़ा बीत गया ।

पोशनूल[1] का बोल वाला आरम्भ हुआ । सुम्बुल[2], यम्बरज़ल[3], यरिकेम[4], और टेकबटेन[5] खिलने लगे । सारा आकाश स्वच्छन्द हो गया :

आव बहार बोलू बुलबुलो,
सोनवलअ करवो शअदी ।

द्राव कठकोश ग्रोज़ह पान छलो,
जरा छलनय वन्दअकी दअदी ।

वुज़ू न्येन्द्रे वुनि छा सुली,
काषअ कुमरि वुच्छी पोशनूलो ।

आय नालन ज़न फरयादी,
भाव वन्दकी गमगोशि गुलो ।

नाव हेयअतन नेरू सुम्बलो,
ह्यथ जमीनस खति आज़ादी ।

प्याल ह्‌यथ छय यम्बरज़लो,
चाव सोंतं तय नभ गव खुलो ।

....

टेकअबटने तय यिरिकेम फोलो,
आव नवबहार बोलू, बुल बुलो ।।

आलम्बन रूप प्रकृति-चित्रण सदा दो प्रकार का होता है। सुन्दर और असुन्दर। सुन्दर रूप में प्रकृति के भव्य एवं रम्य दृश्यों का चित्रण रहता है, और असुन्दर में भयानक विकराल एवं उग्र दृश्यों का। साहित्य में प्राय: अधिकांश प्रकृति के मनोहारिन्, सुन्दर एवं रम्य रूपों के ही दर्शन होते हैं । कश्मीरी लोकगीतों में भी प्रकृति के इस रूप के अधिक चित्रण दृष्टव्य हैं । उदाहरण केलिए, कौन कश्मीर के केसर-पुष्प की प्रशंसा किए बिना रह सकता है । प्रस्तुत गीत में किसान और केसर–पुष्प के वार्तालाप द्वारा कुम-कुम की सुषमा का परिचय कराया गया है :

"केसर के फूल तू सचमुच स्वर्ग सदृश चमकीला है । मैं तुम पर बलि-बलि जाऊं। तू शुक्लपक्ष में दीप-शिखा सा है । ओ ! केसर के फूल तूने यह रंग कहां से पाया ?"

---

१. एक विशेष पक्षी जो कश्मीर में प्राय: देखने को मिलता है ।
२. बसन्त में सर्वप्रथम खिलने वाला फूल ।
३. पीला पुष्प विशेष ।
४. पुष्प विशेष-नर्गिस ।
५. पुष्प विशेष ।

"सुन रे किसान ! यह रंग मुझे मिला भगवान से।"

"गंध दी किसने तुम्हें ?"

"सुन रे किसान ! गंध मुझे दी भगवान ने।"

"दिल करता गले लगूं, जाऊं तुम पर निसार। ओ केसर के फूल" !

सोने हयु प्रज़लान वारिमन्ज़ कोगँपोश,

लग्यो पअरी हा कोंगपोशो।

चोंग हयु प्रज़लान ज़ूनअ पच्छस मन्ज़,

लग्यो पअरी हा कोंगपोशो।

केम चे ह्युतनय रंग हा कोंगपोशो।

लग्यो पअरी हा कोंगपोशो।

रंग हा ग्रेसत्यो खोदायन ह्युतनम।

लग्यो पअरी हा कोंगपोशो।

केम च ह्युतनय मुशक हा कोंगपोशी,

लग्यो पअरी हा कोंगपोशो।

मुशक हा ग्रेसत्या खोदायन ह्युतनम,

लग्यो पअरी हा कोंगपोशो।

बअ करअहय नालमोत कोंगपोशो,

लग्यो पअरी हा कोंगपोशो।

इसी प्रकार कई ऐसे गीत भी मिलते हैं जिन में प्रकृति के उग्र-रूप को दिखाया गया है। ऐसे गीत यद्यपि बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं, फिर भी इन में जिस यथार्थ ढंग से प्रकृति का चित्रण हो पाया है, वह लोकगीतों की स्वाभाविकता एवं लोककवि की साधारण प्रतिभा का द्योतक है। उदाहरणार्थ वन की प्राकृतिक सुषमा-हरे हरे देवदारू, पक्षियों का कलरव, बहते झरनों का तरल स्वर, दूर तक फैली हुई हरयाली इत्यादि के विपरीत, प्रस्तुत गीत में उसी हरियाली, उसी देवदारू को काट-फैंकने तथा चूल्हे में जलाने का उग्र वर्णन है :

वनअ वोलम्य गजि ज़ोलमय

दिवदोर छुमय गजि ज़ोलमय

कायुर छुमय गजि ज़ोलमय

कछुल छुमय गजि ज़ोलमय

बुदुल छुमय गजि ज़ोलमय

पअश छुमय गजि ज़ोलमय

लअश छुमय गजि ज़ोलमय

२. उद्दीपन रूप में प्रकृति-चित्रण, भारतीय साहित्य की एक विशिष्ट परम्परा रही है। लोकगीतों में भी इस परम्परा का निर्वाह बड़ी कुशलता से किया गया है। प्रकृति में भावों को उद्दीप्त करने की प्रवल शक्ति है। उद्दीप्त रूप में प्रकृति की सुरम्य छटाएं सुख की अनुभूति को तीव्र कर देती हैं। और वियोग में वे ही दृश्य पूर्वानुभूत सुखों की याद दिलाकर विरह-वेदना को और भी विषम वना देती हैं। कश्मीरी लोकगीतों में भारतीय परम्परा के अनुकूल, विरह की वेदना प्रमुख होने के कारण विप्रलम्भ श्रृंगार में ही प्रकृति का उद्दीपन रूप अधिक उभर आया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि संयोग-श्रृंगार में प्रकृति के उद्दीपन रूप का कश्मीरी लोकगीतों में सर्वथा अभाव है। संयोग में प्रकृति का उद्दीपन रूप हमें पग-पग पर प्राप्त होता है। उदाहरण केलिए प्रस्तुत गीत में प्रेमिका अपने प्रियतम से मिलने की खुशी में केसर, खोबानी, अनार, इत्यादि पुष्पों को देखकर मुग्ध हो उठती है, इन से आलिंगन करती है, और अपने प्रियतम के लिए प्याले भर लेती है :

मे कऽरी प्यालअ तयार,
सालअ अनतनी वेसिये।
कोंगपोश रोटुमय नालय,
फोलअमुत छु कमिहालय।
मे कऽरी प्यालअ तयार,
सालअ अनतनी वेसिये।
चे़रअ पोश रोटुमय नालय,
फोलअमुत छु कमिहालय।
मे कऽरी प्यालअ तयार,
सालअ अनतनी वेसिये।
दअनपोश रोटुमय नालय,
फोलअमुन छु कमिहालय।
मे कऽरी प्याल तयार।
सालअ अनतनी वेसिये॥

इसी प्रकार के एक और उदाहरण में भी प्रियतम के आगमण से प्रसन्न होकर प्रेयसी फूलों के हार गून्थ लेती है, उद्यान सजा देती है, शैय्या फूलों से ढक देती हैं, और कभी-कभी प्रसन्न मुद्रा में झुमका भी हिला देती है :

लालअ यी सालअ छस प्यालअ भरनावान,
पोशन मालय करनावान छेस।
थजजायअ प्येठ छेस नज़राह त्रावान,
बागस कुन बुच्छथ रावान छेस।
रोशि रोशि नीरिथ वुछ म्य पोशबागह,
पोशन मालअ करनावान छेस।
....

कुनि छेस स्वर्गस सअर करनावान,
हूर दूरअ कण अलरावान छेस ।
यारसुन्द रोशुन सार छुम थावान,
यारस लरिपान सावान छेस ।

विप्रलम्भ-शृंगार में प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण–संयोग-शृंगार में चित्रित प्रकृति से अधिक स्वाभाविक एवं सुन्दर हुआ है। उदाहरण केलिए निम्नलिखित पंक्तियों को देखने से स्पष्ट होगा कि विरह की ज्वाला से प्रपीड़ित प्रेमिका बादलों में छिपे चन्द्र के समान है जिस की ज्योत्स्ना को मेघों ने ढका है। वह धान के उस खेत के समान है जो विना पानी के सूख जाता है :

जून खच़ ओरबरस छाये लो लो,
दूरन मारान ग्राये लो लो ।
अथ्य दां डारस दान्या वोममय,
पानि रोस दान्य गव ज़ाये लो लो ।
जून खच़ ओबरस छाये लो लो ।

या इसी प्रकार के एक अन्य गीत में विरह की व्यथा का चरमोत्कर्ष प्रेमिका की करुण पुकार में गूंज उठा है। बसन्त आया है, सर-सरिताओं में पानी की नई, ताज़ा धार बहने लगी है, वन में पुष्प खिलने लगे हैं, नई हरियाली का उदय हुआ है, परन्तु फिर भी प्रियतम के कानों तक प्रेयसी की करुण पुकार नहीं जाती ।

लअज फ़ुलयाह अन्द वनन,
च़े कनन गोयना म्योन ?
लअज फ़ुलयाह कोलअसरन,
च़े कनन गोयना म्योन ?
वथ़ू नयारअन खसवो,
फोज योसमन अन्दवनन
च़े कनन गोयना म्योन ?

प्रकृति-चित्रण का प्रतीकात्मक रूप किसी साहित्यिक, रचना में तभी निखर उठता है, जब भाव साम्य के आधार पर प्रकृति के उपादानों में से कुछ ऐसे प्रतीक चुन लिये जाते हैं, जो भावों के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं। जैसे प्रकाश आशा का तथा अन्धकार निराशा का प्रतीक है। कश्मीरी लोकगीतों में प्रकृति चित्रण की यह प्रकृति अधिक प्रचलित है। प्रकृति के गिने-चुने उपादानों को प्रतीक मानकर भाव-साम्य स्थापित करना लोककवि की स्वाभाविकता एवं सामान्य प्रतिभा का एक विशेष अंग है। जैसे एक गीत में विवाह केलिए सजाई हुई कन्या की तुलना पाम्पोर (पद्मपुर, जहां केसर की खेती की जाती है) के खेतों में उगे सुन्दर केसर—पुष्प से की गयी है :

पोपुंरअ कोंगपोश जून जन जोतान,
लोते लोते वअनीतोस ।

पोंपुर वुडुअर त कोंगकी टूरी,
कूरी असि हय छि ताबेदार ॥

इसी प्रकार का एक और उदाहरण देखिये :

प्रेमिका रात भर अपने प्रेमी से ओस की भांति लिपटी रही, परन्तु सवेरा होने पर प्रियतम को अपने संग न पाकर उसका मन व्याकुल हो उठा। जिस उद्यान को उसने आंसू से सींचा, वही उसे ठुकरा गया। वह अपनी सखियों से कहती है—"जाओ सखियो, उनसे प्रार्थना करो कि वे मेरा यौवन-पान करें।"

रातस ओसूम लवअ ज़न लारिथ,
सुबहस प्रअवी क्यथा त्राविथगोम।
बबरे-चमन अशि सगनअविथ,
अशिमोत कवा पशिनाविथ गोम।
सवाल करितोस हीय गछि़ छाविथ
रातस ओसुम लवअ ज़न लारिथ ॥

मानवीकरण के रूप में भी प्रकृति चित्रण के कई उदाहरण कश्मीरी लोकगीतों में प्राय: उपलब्ध होते हैं। प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप ही मानवीकरण कहलाता है। संयोग-वियोग, दर्शन-रहस्य कई प्रकार के लोकगीतों में इस पद्धति का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ विरह अवस्था में व्याकुल विरहणी अपने प्रियतम को निशातबाग़ का फूल सम्बोधित करके पुकारती है :

बागि-निशात के गुलो,
नाज़ करान करान वल्लो।
सअलि डलुक वुच्छुस बहार,
बागि निशात शालअमार।
संगदिला सितमगरा,
आरयीन्य च़ अख ज़रा।
ज़ायि करथस बअ यम्बरज़ला,
माय बरान बरान वल्लो।
बागि-निशात के गुलो,
नाज़ करान करान वल्लो।
पै लोबमय म्य गगिरबलो,
नतअ नसीम बोनेन तेलो,
बागि-निशात के गुलो,
नाज़ करान करान वल्लो।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन द्वारा हमने कश्मीरी लोकगीतों में प्रकृति चित्रिण के विभिन्न प्रमुख रूपों का परिचय देने का प्रयत्न किया। इन भेदों के अतिरिक्त और भी भेद-उपभेद किये जा सकते हैं, परन्तु स्थानाभाव के कारण यहां केवल इन्हीं चार भेदों का परिचय कराया जा सका है।

●●●

बिम्ब-प्रतिबिम्ब

● कश्मीरी कविता : चमनलाल 'चमन'

हिन्दी अनु० : मोहन 'निराश'

● डोगरी कविता : रामनाथ शास्त्री

हिन्दी अनु० : मधुकर

● पंजाबी कहानी : प्रभजोत कौर

हिन्दी अनु० : त्रिदीप लोक

"स्वनय आसिहे यि दुनिया ओस न्यसफ़ॅय"

चमनलाल 'चमन'

अगर अज़रायि कांह् वथरावि स्वन ताम
वुथिस व्ययिहन मल्यस, चश्मन बर्यस रंग
अछिरवालन कर्यस कारीगरी ख़ूफ़
तिमन व्ययिहन कमन्द हिश शूबराव्यस
डयकस तारख-नभॅकि पाठि लागि तारख
परेशां मस थविथ तस स्वरम् लागन
टपिस मंज़ रंग-ब-रंगी पोश शेरन

अगर हीमालि करि कांह् बिंदरि वर्शुन
ग्वलाबॅकि पाठि ललवां लूख नेरन
यम्बॅरज़लि ज़न इनस लोत-लोत दिनस मीठि
अगर सारी ज़मानुक आय ह्यथ यिन
ख्वरन तल त्रावनस म्वय म्वय दियस शूब

अगर सोरुय जहाँ बनि अख ज़ुलेखा
म्य छुन् बासाँ तस हिश क्या छिव्ययि काँह्
कनन श्रवज़ि-श्रवज़ि करिन स्व शौख़ लैला
म्य छुन् बासां तस हिश व्याख आस्या
स्व य्वस् ज़न पननि क़ॅस्मॅ चिकुनि ज़मानस
म्य निश तस प्यठि ह्यक्या कांह् व्याख नीरिथ

लगां यमि सात् फ़िज़हस ग्राय जामन
वुथा शुंगिमॅति मलर लुत लुत करां छल
वठिस सीतिन लगां वापस यिवां गॅथ
बराबर ज़न तमी त्रोव मस लुंगा ड्युल

खसां तारख छि थलि ज़न शाम सपदिथ
नबस रौनक़ दिवां बालन खसां बोश
नज़ारन रंग फेरां ज़िद् सपदां
तिथै काँनि तस ति चश्मन द्वन तिथुय गाश
अगर प्रज़लन त्ज़न सथ सिरियि प्रज़लन

अगर नहीं वह होती, रहती सृष्टि अधूरी

हिन्दी अनु० : मोहन 'निराश'

कोई अगर स्वजन बन जाये, स्नेह परस दे !
सोने, मोती से 'अज़रा' को आज सजाये ।
अंग-राग से गाल गुलाबी करकर जाये,
रंग-भरे यदि और तरह का उन आँखों में,
शिल्पी बन उसकी पलकों को, बरौनियों को
एक रूप दे, और सजाये, और संवारे ।
कामदेव का चाप बना डाले भौहों को ।
यदि उसके माथे पर कोई नभ की नाईं ।
टिम-टिम करते चांद-सितारे जड़-जड़ जाये ।
बालों को बिखरा उसके नयनों को आंजे,
यहां-वहां उन सु-कुन्तलों में फूल सजाये ।

यदि कोई सलमा बरसाये 'हियमाला'[1] पर,
कली गुलाब की समझे, नेह से उसे झुलाये ।
धीरे-धीरे आकर उस नरगिस को चूमें,
लेकर आयें जगती-भर की भरी उमरिया
भेंट चढ़ायें उसकी, कण-कण शोभित कर दे ।

सारी दुनिया यदि बन जाये एक 'जुलेखा',
मगर मुझे लगता है उस सा और न कोई ।
कोई मदमाती 'लैला' झूमर झमकाये,
किन्तु नहीं उपमा है उस की, छांह न कोई ।
वह जो, इस जगती में खुद अपनी उपमा है ।
वह तो मेरी, मुझ को कोई क्या भरमाये ।

प्रकृति-दुकूल जब ढीले होकर हैं लहराते,
वीचि, विलास में आती, निंदिया से जागी हो ।
कूल किनारों से लगलग कर लौटा करता
वह नदिया का लहराता, भंवराता पानी,
जैसे उसने बालों को ढीला छोड़ा हो ।

---

१. कश्मीरी लोक-कथा 'हीयमाल-नागराय' की नायिका

म्य छुम कुनि सात् पानस व्रोंथ सपदान
संगरमालन तुलां यलि वाव न्यन्दरे

खसान माह्रराज् वुथ अफ़ताब लुत लुत
तिथै पाठिन पकां स्वति क्याह वनै वुज़े

वतन वांसाह हुरान तस सीति पकि पकि
क्रुहन च़ीह पीति सपदां दुह गछ़ान गाव
कथन याम बेहम् वरियन क्या छु नेरान
वख़्त रावां, पहरन कुस हिसाबॅय ।

तमिस वुछथॅय पज़ी क्वदरत मशां ज़न
तमिस वुछथॅय च़लाँ ज़न शर ग्वलावॅकि
स्व नै आसिहे यि दुनिया ओस न्यसफ़ॅय

व्यरंग, वेपायदारॅय, वॅलि ख़यालाह

तमिस ज़न कारिगरवॅय पान गुरमुत
नक़्श कॅरिमॅति स्यठाह दिलदार लागिथ
मुलायिम जाम् वॅलि वॅलि ज़न त् शबनम
असान माहर्यनि त्रुछिथ स्वरमस त् साज़स

प्रज़लवॅनि टेक्वटन्यन शौख़ रूख़सार

अगर अमि ओर अज़रा हावि म्वनिफॅलि
सु गव मच़राह तुलुन वॅलि पानिपानस
कथै करि कांह त् कथि गछि साद आसुन
म्य छुन् बासान तस हिश क्या ह्य व्ययि कांह

स्व युस ज़न पननि क़स्मॅचि कुनि ज़मानस
स्वनै आसिहे यि दुनिया ओस न्यसफ़ॅय ।

●

राका आने पर जब तारे चढ़ आते हैं
नभ पर रौनक छाती, होता मान गगन को।
रंग नज़ारों में भर आता, जीवन मिलता।
इसी तरह उसकी आंखें भी चमका करतीं,
चमका करतीं, कितने ही रवि चमका करते।

कभी-कभी भ्रम होता मुझ को देख-देख कर
ऊषा को निंदिया से जब पवमान उठाता।
धीरे-धीरे से जब सूरज दुल्हा बन कर
ऊपर-ऊपर, ऊपर-ऊपर उठता रहता,
उसी चाल से वह भी चलती : क्या समझाऊं !

साथ-साथ जब चलती उसकी संगिनि बनकर
राहें, उन की उठी उमरिया बढ़ जाती है।
पल बनती कोसों की दूरी, दिन छन बनते।
जब बातों में लग जाऊं तो बात-बात में,
ढलते बरस, समय चुक जाता, घड़ी प्रहर क्या ?

उसे निरख कर प्रकृति-रूप का ध्यान न रहता,
उस को देखूं लगता देखी कलि गुलाब की।
अगर न होती वह, रहती यह सृष्टि अधूरी,
होती : रंग-रहित, क्षण-भंगुर, सपन भ्रांतिका।

कितनों ने शिल्पी बन कर के सुघर बनाया,
उसे, संवारा, रूप दिया, प्रेमी बन कर के।
तन्वंगी, शबनम ने जैसे ओढ़े-अम्बर,
हंसती है, दुल्हन ज्यों हंसती दर्पण लख कर।
उसके गालों पर है लाली कुसुम कली की।

यदि तिस पर भी 'अज़रा' अपना करे प्रदर्शन,
मुझ को लगता है यह पागलपन नादानी।
बात करे यदि कोई, तो वह अर्थ सहित हो,
मुझ को लगता है यह उस सा और न कोई।
वह जो इस जगती में खुद अपनी उपमा है,
अगर नहीं वह होती, रहती सृष्टि अधूरी।

नासमझी

प्रो० रामनाथ शास्त्री

नासमझी ने, इस दुनियां गी, कैसा ऐ भरमाया-ओ,

(१)

कुतै शकारी छप्पी बैठे, लाइयै कपटी फाइयाँ—ओ,
कुतै डुआरी भरदे बाजें, खल्लें नजरां लाइयाँ—ओ,
प्रीत डरी दी, ममता सहमी,
तां पंछी करलाया—ओ।
लोक समझदे-इक पंछी ने गीत सुहामां गाया—ओ,
नासमझी ने, इस दुनियां गी, कैसा ऐ भरमाया—ओ,

(२)

चौन्नें कूटें न्हेर-मनेरा, मन डोलै, साह रुकदा—ओ,
जोत नमानी तिल-तिल जलदी, तेल नि जिच्चर मुकदा—ओ,
ए कैसा नित जलने आला,
जीवन इसने पाया—ओ!
लोक समझदे ताज सुनहरी, दिए ने सिर लाया—ओ,
नासमझी ने, इस दुनियां गी, कैसा ऐ भरमाया—ओ,

(३)

मौती दे बिकराल हे पैंडे, नां थक्के, नां हारे—ओ,
तां मंसूर ते ईसा-गान्धी, मीरां दे जैकारे—ओ,
कालकूट बिस पीता, पीयै—
ए अमरत पद पाया-ओ!
लोक समझदे, भाग बड़े हे, नाम बड़ा तां पाया—ओ,
नाससझी ने, इस दुनियां गी, कैसा ऐ भरमाया—ओ,

(४)

रुत्त बदलदी, बूटें-बेलेंगी आखै बलिदान करो,
जे अमरत-रस पीना ऐ तां, पहले तन-मन दान करो,
तप करियै गै ए फल थोए,
कंचन होई गई काया—ओ!
लोक समझदे पतझड़ माड़ी, व्हारें रूप सजाया—ओ,
नासमझी ने, इस दुनियां गी, कैसा ऐ भरमाया—ओ,

नासमझी

अनु० केहिरी सिंह 'मधुकर'

नासमझी ने इस दुनिया को कैसे भरमा रखा है!

(१)

कहीं शिकारी छिपे बैठे हैं, उन्होंने कपट-पाश फैला रखे हैं,
कहीं (आकाश में) उड़ते हुए बाज़ों की नज़रें नीचे की ओर लगी हैं,
प्रीति डरी हुई है, ममता सहम गई है,
इसलिए पक्षी चीख उठा है।
लेकिन लोग समझते हैं कि पक्षी ने मधुर गीत गाया है।
नासमझी ने इस दुनिया को कैसे भरमा रखा है!

(२)

चारों ओर गहरा अन्धेरा है, मन डोलता है, सांस रुकती है।
ज्योति बेचारी तिल-तिल करके तब तक जलेगी जब तक तेल समाप्त नहीं होता।
इस दीपक को सदा जलते रहने वाला
यह कैसा (कठिन) जीवन मिला है?
लेकिन, लोग समझते हैं कि दीपक ने अपने सिर पर सुनहरी ताज लगा रखा है।
नासमझी ने इस दुनिया को कैसे भरमा रखा है!

(३)

मौत के भयानक रास्तों में, वे न थके ही, न हारे,
इसीलिए मंसूर, ईसा, गांधी और मीरा का जय-जयकार हुआ।
इन बलिदानियों ने जीवन में विषपान करके ही
यह अमृत-पद प्राप्त किया,
लेकिन, लोग समझते हैं कि इन लोगों के भाग्य बड़े थे, तभी इन्हें इतना यश मिला।
नासमझी ने इस दुनिया को कैसे भरमा रखा है!

(४)

ऋतु बदलती है तो वृक्षों-बेलों को कहती है—बलिदान करो।
यदि नवजीवन का अमृत-रस पीना चाहते हो तो पहले तन-मन का दान दो।
वृक्षों-बेलों ने वैसा ही तप किया,
तभी तो उन्हें फूलों-पत्तों का नया शृंगार मिल सका;
लेकिन, लोग समझते हैं कि पतझड़ बुरी होती है, और वृक्षों-बेलों का यह सुन्दर
रूप बसन्त ऋतु ने दिया है।
नासमझी ने, इस दुनियां को, कैसे भरमा रखा है!

जीवन के वे क्षण

मूल—श्रीमतो प्रभजोत कौर
श्रनु० त्रिलोक दीप

और वह हमारी आखिरी मुलाकात थी, शायद जीवन भर की आखिरी। शायद फिर कभी मैं आपको न देख सकूं। अपने आपको मैं धिक्कारती हूं। पाप और पुण्य के चक्कर में घूमते हुए मेरे विचार कभी इसे पाप और कभी पुण्य बना देते हैं। कभी मैं अपने को कोसती हूं और कभी आपको।

बिछुड़ना मौत के समान होता है परन्तु इस प्रकार के जीवन से तो मृत्यु ही अच्छी है। बिछुड़ते समय आपने मुझे कुछ कहा और मैं चुपचाप आपकी ओर निहारे जा रही थी। कहने केलिए मुझे कुछ सूझ ही नहीं रहा था।

"मेरा जाना ही उचित है, रोहिणी !" आपने पुनः कहा था—"यहाँ अब रहा नहीं जाता।"

मैं फिर भी चुप रही। शायद मेरी यही चुप्पी कुछ कर गई हो।

"तुम्हारे यहां रहते हुए मेरा यहां रहना—मैं इतना बुरा नहीं हूं जितना लोग मुझे समझते हैं। तुम्हारे पति को देखते ही मैं पानी-पानी हो जाता हूं।"

"पर क्यों ?" मैं बोली—"उनका आपने क्या बिगाड़ा है और लोगों की परवाह ही कौन करता है।"

"तुम से प्रेम करना तुम्हारे पति के प्रति एक प्रकार का पाप है और सच पूछो तो यही

चिन्ता मुझे खाये जा रही है। लोगों की परवाह चाहे हम न करें पर कई और अवश्य करते हैं।"

मैं फिर मौन हो गई। इसका उत्तर मेरे पास नहीं था। मेरी आंखों के सामने अन्धकार छा गया और इन सांसारिक सम्वन्धों से ऊंची उठ कर पीड़ा का मूल्य पा रही थी।

"मुझे अपनी चिन्ता नहीं, रोहिणी ! तुम्हारे सम्मान की परवाह है। मेरे यहां रहने से लोग तुम पर उंगलियां उठायेंगे और इसके साथ ही तुम्हारे अस्तित्व का अहसास बार-बार मुझे तुम्हारे घर की तरफ खींच लायेगा।"

मेरे झरते हुए आंसुओं तथा फड़कते ओठों की चिन्ता किए बिना आप चले गये। अब मैं सोचती हूं कि क्या यह ही जीवन है—मिलना और बिछुड़ जाना और यह बीता हुआ समय केवल याद मात्र बन कर रह जाता है।

कभी मैं इस प्रकार भी सोचती हूं कि प्रेम पाप नहीं, एक प्रकाश है, एक सूझ है और यह सूझ प्रत्येक प्राणी को नसीब नहीं होती। मेरे कानों में आपकी आवाज़ गूंजती है जो मुझे बेचैन कर देती है।

आप कहा करते थे—"पीड़ा अंधकार है रोहिणी, पीड़ा बिल्कुल अंधकार है। एक किरण के देखने मात्र से सूर्य की ऊष्णता का अहसास हो जाता है और ऐसे में कौन है जो प्रकाश के स्रोत के पास पहुंचने की कामना न करे।"

आपकी आवाज की तीक्ष्णता अब भी मेरे तन और मन को व्याकुल कर देती है। अब भी मैं प्रबल भावनाओं तथा वेगों से निढाल हो जाती हूं और अब भी आप की वह झुंझलाहट मेरे नैनों के समक्ष साकार हो जाती है।

"मैं कायर हूं, बुज़दिल हूं। मैं कभी भी अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच सकता। सदा अंधकार में ही भटकता रहूंगा। प्रकाश इन आखों के अनुकूल ही नहीं।"

"नहीं—नहीं—" किन्तु ये शब्द तो मेरे गले की दीवारों के साथ ही टकरा कर रह जाते हैं इससे पहले ज़बान कह देती—"मजबूरी है।"

"मजबूरियों का सहारा कौन माँगता है, रोहिणी ?"

"मांगना ही पड़ता है।"

"हां जब तक प्रकाश के सभी द्वार नहीं खुल जाते।"

—और आप चले गये विदा की अन्तिम दृष्टि फैंक कर और मैं कितनी ही देर वहीं की वहीं ही खड़ी रही मानों मेरी सभी इन्द्रियां चैतन्यहीन हो गई हों। मैंने सुना तथा रिक्त दृष्टि से उस राह की तरफ देखती रही—उस राह की ओर जिस राह से अभी-अभी आप आये और चले गये।

पहली बार जब मैं आप से मिली तो आपके घर एक ख़ासी भीड़ थी। अंगूर के एक गुच्छे पर हमारी आखें टकराईं और उन्होंने अन्तःकरण तक भेद दिया।

"खातीं क्यों नहीं आप, क्या अच्छे नहीं ?"

"नहीं, तो ?" मैं झिझक गई ।

आप फिर भीड़ में गुम गये और मैं भी ।

कुछ देर के बाद नरगिस मेरे पास आई और कहने लगी, "मेरे भैया की इच्छा है कि मैं आपको चूम लूं" और उसने मेरी गालों को चूम लिया । लज्जा से मेरा मुंह लाल हो गया ।

"कितनी सुन्दर है रोहिणी" आप अपनी मां से कह रहे थे, "जरा देखो न अम्मी ! अगर यह कुंवारी होती तो मेरे लिए आज बड़ा ही खतरा था ।"

"पागल" । अम्मी ने प्रेम से घूरा ।

आप के ये शब्द मेरे सुनने योग्य तो नहीं थे पर मैं उन्हें अनसुने भी न कर सकी ।

ऐसी बात नहीं थी कि आज किसी ने पहली बार मेरी सुन्दरता की प्रशंसा की थी और मैं यह भी जानती थी कि मैं पहली ही स्त्री नहीं थी जिसको आप ने सुन्दर कहा था परन्तु मैं सदा की भांति आज इस प्रशंसा को फैंक न सकी ।

"मज़ाक नहीं मां, देखो न इस के दांत—"

"शस" मां ने एक और घुरकी कसी । मैं भी बात टालने के लिए उठ कर दूर हो बैठी ।

"बहुत शैतान है ।" नरगिस मेरे कानों में आ कर फुसफुसाई ।

मैंने भी जिज्ञासाहीन सा सिर हिला दिया ।

आपने भीड़ में से मुझे फिर ढूंढ़ लिया ।

"मुझे पहली नज़र में प्रेम नामक मुहावरे की समझ आज आई है ।"

मैंने सुना, समझा और डर गई । चारों तरफ देखा कहीं कोई सुन तो नहीं रहा ।

"नहीं, कोई नहीं सुन रहा है" आपने मेरे विचार तथा भयभीत चेहरे को पढ़ते हुए उत्तर दिया ।

मैंने आपकी आंखों में देखा । जो वहां देखा उसे देखने का मेरा कोई अधिकार नहीं था ।

और फिर खिसिया कर मैं मुस्करा पड़ी । मुस्कान का तो यह बहाना था ।

इसके बाद मैं कितनी देर तक आपके घर की तरफ न आई । कई बार जान-बूझ कर मैंने आपको पहचाना भी नहीं । आपने भी शायद मेरे इस संकोच को समझा और दूर रहने का यत्न किया लेकिन दूर से आती हुई आपकी आवाज भी मुझे उदास कर देती थी । आपकी परछाई और अस्तित्व के अनुभव मात्र से ही मैं व्याकुल हो जाती थी ।

उस दिन आप अचानक आये और सीधे भीतर ही चले आये । न सलाम, न नमस्ते । मैं हैरान भी थी, और परेशान भी । मैंने आपको बैठने के लिए भी न कहा बल्कि स्वयं उठ खड़ी हुई ।

"रोहिणी, रोहिणी" आपने मेरा हाथ पकड़ लिया।

"रोहिणी, मैं तुम्हें प्रेम करता हूं और अब और पीड़ा नहीं सह सकता। यह सितम है, बड़ा ही ज़ुल्म है।" आप को अपने आप की सुध-बुध न थी। आप को यह भी मालूम न था कि आप क्या कह रहे हैं।

मैंने झटके से अपना हाथ छुड़ाया किन्तु मैं आपको जाने के लिए न कह सकी। यह मेरी कमज़ोरी थी।

"मेरी हो जा रोहिणी, मेरी—"

"नहीं" मैं चीख पड़ी।

"क्यों नहीं?...मैं तुम से प्रेम करता हूं।"

"पता नहीं आप किस चीज़ को प्रेम कहते हैं।"

"उसी को जिस को समझने में हम दोनों असमर्थ हैं।"

"इसको समझने की मैं कोई जरूरत नहीं समझती।"

"मैं जानता हूं। इस छोटे से जीवन में मैंने बहुत कुछ देखा है, पर कुछ भी ऐसा गहन और भरपूर नहीं।"

"हर नया अहसास भरपूर होता है।" अब तक मैं सम्भल चुकी थी। "भावों का वेग अपने आप उतर कर ठण्डा पड़ जायेगा।"

आप सिसक-सिसक कर रोने लगे और मेरे पैरों के पास ही बैठ गये। मैं असहनीय दृष्टि से बेबस हो देखती रही।

फिर आप स्वयं ही चुप हो गये, संभल गये और उठ कर खड़े हुए और कहा— "तुम्हें बहुत बलवान होना पड़ेगा, रोहिणी! क्योंकि मैं बलहीन हूं।"

"अच्छा" मैंने धीरे से उत्तर दे दिया परन्तु मेरी टांगें कांप रही थीं।

अच्छी भली सीधे रास्ते पर चलती हुई मालूम नहीं मैं इन कठिनाइयों में कैसे फ़ंस गई थी। पता नहीं साफ़, नीले और निर्मल आकाश पर यह आंधी कैसे उमड़ आई थी।

इसके बाद कई दिन मैंने आपको कहीं भी न देखा, न ही मैंने किसी से आपके विषय में पूछा ही। उस दिन विदा की वह नज़र फैंक कर आप परदेस चले गये, मानों परदेस जाकर अपने आप को भूल जायेंगे।

कभी-कभी कुछ तुच्छ से क्षण जीवन को इतना बदल देते हैं कि अपने आपको भी पहचानना कठिन हो जाता है। पता नहीं वे घड़ियां मेरे लिए अच्छी थीं या बुरी परन्तु वे मेरे जीवन का अंग बन चुकी हैं। लाख यत्न करने पर भी मैं उनको वहां से नहीं निकाल सकी हूं। अब तो वे मेरे जीवन के अनमोल क्षण हैं।

● ● ●

अपना अपना सच

लोचन बख्शी

ठहरो, मुझे देख कर यों मत मुस्कराओ तुम्हारी मुस्कान का व्यंग्य मैं खूब समझता हूं। मैं तुम से भली-भाँति परिचित हूं। तुम कोई ग़ैर थोड़े ही हो, तुम्हारे सामने मेरा शरीर नंगा है। तुम्हारे सामने मेरी आत्मा नंगी है तुम जो मेरी परछाई हो, तुम जो मेरी अन्तर-आत्मा हो, तुम से क्या छिपा है। जो कुछ मैं आज तक कर पाया हूं वह तुम सब समझते हो। मेरे वर्तमान से तुम भली-भाँति परिचित हो। भविष्य में मैं क्या करने जा रहा हूं, यह भी तुम जानते हो। मेरी प्राप्तियों के साक्षी, मेरे अरमानों के साथी! तुम से कोई पर्दा नहीं, फिर तुम मेरी तरफ देख कर यों क्यों मुस्कराते हो? तुम मुझे हीन दृष्टि से क्यों देखते हो? तुम मुझे घटिया और कमीना क्यों समझते हो? क्या तुम ने आज मेरी दाढ़ी में वे सफेद बाल देख लिये हैं जिन्हें मैं कई दिनों से छुपाने की कोशिश कर रहा था। भई, इसमें हंसने की क्या बात है? यह कोई अनहोनी थोड़ी ही है? सब के साथ यों ही एक दिन होता है। वैसे, यह बाल मैंने धूप में सफेद नहीं किये।

भई, ज़रा रुको, तुम मुस्करा रहे हो और मैं तुम्हारे सामने मादरज़ाद नंगा खड़ा हूं; मुझे पहले अपने शरीर का नंगापन ढांप लेने दो। तुम नहीं जानते यही हमारी दुनिया की कदरें और कीमतें हैं। यहां लोग तुम्हारे वस्त्रों से ही तुम्हारा मूल्यांकण करते हैं। इसलिए मैं खूबसूरत से खूबसूरत लिबास पहनना चाहता हूं। अच्छे कपड़ों का मेरा एक 'मेनिआ' है। लोग मुझे 'क्रेज़ी' कहते हैं, फिर क्या है! उनको क्या मालूम, बचपन में मैं अच्छे कपड़ों के स्वप्न देखा करता था। कपड़े सुन्दर पंखों वाली परियां बन कर मेरे सामने फड़फड़ाते थे। मैं उनको पकड़ने का प्रयत्न करता था और वे मुझ से दूर भाग जाते थे। आज मैं उनसे बदला ले रहा हूं। आज मैं कई-कई दिन तक अपनी सिल्क की कमीज़ और वैलवेट की पतलून पहने हुए ही बिस्तर पर सो जाता हूं। मेरे गरम सूट, मेचिंग टाईयों के साथ बक्से में पड़े मेरी

राह देखते रहते हैं। खादी की मोटी बुशर्ट को अपने हाथों कलफ़ लगा कर और प्रैस करके पहनने में आनन्द मिलता है। हां, एहतियात ज़रूर बरतता हूं कि बुशर्ट के रंग में अपना साफा भी रंगवा लेता हूं और यों मेचिंग कलर्ज़ की एक टैक्निकलर परस्नैलिटी ले कर तुम्हारे सामने आ जाता हूं। साफे को पटियाला शाही अन्दाज़ में बड़े रख-रखाव के साथ, घोट घोट कर बांधता हूं। जिस से मेरा कद कम से कम छः इंच ज़रूर ऊंचा दिखता है। अपने बालों और दाढ़ी पर मैंने शुरू से ही कड़ा नियंत्रण कर रखा है। घने बालों वाली अपनी दाढ़ी को फौजी तरीके से बांधता हूं। मूंछों पर बल देता हूं और यों कील-कांटे से लैस हो कर घर से निकलता हूं माफ कीजियेगा, मैंने यह ऐक्सप्रेशन एयर फोर्स में सीखा था—जहां मेरी एक एंग्लो-इंडियन दोस्त, मेरी दाढ़ी और मूछों को कील-कांटे कहा करती थी। एक बात और बता दूं कि जब मैं घर से निकलता हूं तो जेब भरी होती है और दिल खाली होता है। जब घर लौट कर आता हूं, तो जेब खाली होती है और दिल भरा होता है। बीवी पूछती है :

"क्यों जी, आप उदास क्यों हैं ?"

"नहीं, उदास तो नहीं हूं, वैसे ही सोच रहा था।"

और तुम मेरी ओर निहारते हुए फिर एक कमीनी हंसी हंसते हो, तुम जानते हो मैं कुछ सोच नहीं रहा होता, बस यह कि रोते क्यों हो—जनाब, शक्ल ही ऐसी है।

भई, यह सोचने की मेरी पुरानी आदत है और यह मेरी उदासी से उभरी है। उदासी जिसे मैं बचपन के बारह वर्षों तक अपने मन में छुपाये रहा। बारह वर्ष तक मेरे मन की झील में एक कंवल खिलने को तरसता रहा, परन्तु खिला नहीं। बारह वर्ष तक मेरे मन का पूर्णभक्त काल-कोठरी में कैद रहा। बारह वर्ष तक कल्पना की शहज़ादी मेरे मन में सोती रही. न जाने उसे किस राजकुमार की प्रतीक्षा थी और फिर जैसे अचानक वह राजकुमार एक दिन आ गया। उसका रूप कितना भयंकर था। उस के मोटे-मोटे खुश्क होंठ मेरे मन की झील पर फैल गए। मेरे मन का कमल न खिल सका। उसी रात मेरे पिता जी का देहान्त हो गया। मेरी गमगीन रूह प्यासी भटकती रही और मैं सोचने लगा, 'मर कर लोग कहां चले जाते हैं ?" मेरे सोचने का यह दार्शनिक-अन्दाज़ मेरे पिता जी की देन है। गृहस्थ होते हुए भी वह एक साधु थे। उनकी एक ही धुन थी कि मैं पढ़ लिख कर योग्य बनूं। खुद वे पुराने ज़माने की प्राइमरी तक पढ़े हुए थे और नायब तहसीलदार रिटायर हुए थे। मेरे बड़े भाई को उस ज़माने में उन्होंने बी० ए० पास करवाया था। जब लोग यह भी नहीं जानते थे कि बी० ए० किस चिड़िया का नाम है। मगर उसे महकमा माल में नौकरी न करने दी, क्योंकि वहां रिश्वत चलती है। मेरे लिए भी उनका यही आदेश था।

पिता जी के देहान्त के पश्चात् मैंने बचपन में खरबूजे बेचे हैं, ज़िल्द-साज़ी की है, घड़ी-साज़ी सीखी है, ट्यूशनें पढ़ाई हैं। साथ-साथ पढ़ता था और पढ़ाता था, सीखता था और कमाता था। मैं अपने पांव पर खुद खड़ा हुआ। दूसरे महायुद्ध में रायल एयर फोर्स में भरती हो गया, भारत के तमाम बड़े शहरों की यात्रा की; आसाम के जंगलों में और

अराकान की पहाड़ियों में घूमा। बंगाल की भूखमरी अपनी आंख से देखी और बर्मा में जापान को लड़ते देखा। मित्र-राष्ट्र की सेनाओं को आगे बढ़ते देखा और युद्ध की समाप्ति पर रिलीज़ होकर लाहौर लौट आया। बाद में महकमा सिविल सप्लाइज़ में मुलाजमत कर ली और उस ज़माने में जब कि मेरे साथी दिन-रात अपने हाथ रंग रहे थे, मैं स्नेह की सम्पत्ति लिए बैठा था और साहित्य के बैंक में अपनी कहानियां जमा करवा रहा था।

"धत् तेरे की ! तुम्हें अकल न तब थी न अब है।"

"भई सुनो ! मैंने ज़िन्दगी में रुपया कभी नहीं कमाया, दोस्त तो कमाये हैं और दोस्त भी ऐसे जो हर वक्त मुझ पर अपना सर्वस्व न्यौछावार करने को तैयार रहते हैं। बदले में मैं अपने दोस्तों को कुछ नहीं दे पाता। अपने सर्किल में मेरी दोस्ती ज़रा एक्ज़ेक्टिंग किस्म की वाक्या हुई है वैसे साधारण मिलने वाले मेरे व्यवहार से मुग्ध हो जाते हैं। मैं उन से यों मिलता हूं जैसे चिर परिचित हूं। वह मेरी मधुर वाणी और प्यारे अन्दाज़ के गुण गाते थकते नहीं और मेरा नन्हा बेटा अपनी मां से पूछता है :

"मम्मी, डैडी में ऐसी कौनसी बात है कि हर आदमी उनकी तारीफ़ करता है।"

"अच्छा, अब आप भी अपने मुंह मियां मिट्ठू बनने चले हैं। मैंने कहा सरदार जी ! सत्य श्री अकाल।"

"अच्छा, यह अब तुमने नया तीर छोड़ा है—तुम समझते हो कि 'सत्य श्री अकाल' का तीर मार कर तुम मुझे चारों खाने चित्त गिरा लोगे। इस तरह तुम मुझे पराजित नहीं कर पाओगे। नमस्ते कहो या आदाब अर्ज़। जैसा तुम कहोगे वैसा ही उत्तर पाओगे। मेरा विश्वास धार्मिक नहीं, सभ्याचारक है। यह अलग बात है कि अपने घर में 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' का प्रकाश करता हूं। अपना नित्य का कार्य-क्रम शुरू करने से पहले, नहा-धोकर गुरुवाणी का पाठ करता हूं, पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि तुम मेरी आस्था को मेरी कमज़ोरी समझो। सुनो, मैंने अपने दो बेहतरहीन दोस्त अपनी इसी ज़िद्द के कारण गंवाये हैं। एक को यह चिढ़ थी कि अपने गैर सिक्ख दोस्तों की महफिल में मैंने सिखों से सम्बन्धित 'जोक' क्यों सुनाया– मैंने बहुतेरे हाथ-पैर जोड़े और उससे कहा, "भइया, यह जोक नहीं यह तो मेरी आप-बीती थी। पर वह टस-से-मस न हुआ और वही ढाक के तीन पात—गालियां बकता हुआ मुझे हमेशा के लिए त्याग गया।

"तू सरदार नहीं है, ज़लील है, कमीना है, लाला है, भापा है......"

दूसरे मित्र जो मुझ से हमेशा-हमेशा केलिए छिन गये हैं, उनकी कहानी ज़रा अलग है। उनका दस्तूर यह था कि जब कभी भी मेरे पास आते, दस्तार सजा कर, दाढ़ी लगा कर। उनके पांचों ककार उनकी गुफतार और किरदार में पेश रहते। अब इस बात का इलाज क्या है कि वह मेरे पास आते ही निहायत बेहूदा हरकतें करने लगते। निहायत गलीज़ से गलीज़ बातें करने लगते। मैं कभी उनके बुज़ुर्गाना अन्दाज़ में खो जाता और कभी उनकी खुली दाढ़ी में अटक जाता। उनका अन्दाज़ ही कुछ ऐसा था। मुझे यों लगता था कि इस वक्त वे ज्ञानी जी दोनों जहां की नियामतें लेकर सिर्फ मुझ पर ही न्यौछावर करने आये हैं।

एक दिन मैं अपने इन ज्ञानी जी के साथ मकान की छत पर खड़ा था। वह बाज़ार में चलती हुई हर औरत को अपनी पारदर्शी आंखों से घूरते जाते और गुरुवाणी पढ़ने के अन्दाज़ में, उसके नख-शिख पर एक अपूर्व 'कमेंण्ट्री' करते जाते—मैं उस समय एक उलझन में फंसा हुआ था। मेरी एक कहानी कहीं खो गई थी और मैं भरे बाज़ार में उसे खोजने की कोशिश कर रहा था। इतने में एक मोटर मकान के नीचे आकर रुकी, मुझे लगा जैसे मेरी कहानी उस मोटर में से उतरी हो। एक अत्यन्त सुन्दर युवती उस मोटर में से उतरी और सड़क के किनारे खड़े एक अधेड़ उमर के सिख के पास जा कर रुक गई। ज्ञानी जी किसी रास्ता चलती महिला के साथ कहीं दूर पहुंच कर गूढ़ ज्ञान में डूबे थे। मैंने उनका ध्यान नयी समस्या की ओर आकर्षित करते हुए कहा :

"गुरुमुखो ! कौन से खोबे (दलदल) में फंस गये हो—इधर आओ, तुम्हें एक सिखनी दिखाऊं।"

"अबे साले, सिखनी क्यों कहता है—सरदारनी कह ना।"

"वाह ! साली खड़ी तो उस सिख के साथ है, हमारे साथ खड़ी होती तो सरदारनी कहते।"

मेरी इस हरकत से ज्ञानी जी सख्त नाराज़ हुए और अपनी दस्तार और दाढ़ी समेट कर यह जा, वो जा।

आज भी जब कभी किसी पांचों ककारों वाले सरदार जी से भेंट होती है तो मैं अपनी आंखों में आस्था और श्रद्धा भर कर बड़े प्यार से उन्हें 'सत्य श्री अकाल' कहता हूं। वे समझते हैं कि मैं—"जो दीसे गुर सिखड़ा तिस निऊ निऊ लागों पाए जीओ"— के असूल पर अमल कर रहा हूं। मगर मेरी आंखें उन पांचों ककारों में खोई हुई अपनी कोई प्रिय वस्तु खोजने लगती हैं।

मेरे मित्र देवेन्द्र, बच्चन, दिनेश, हरीभजन, दिलीप और मखमूर मुझे अत्यन्त प्रिय हैं परन्तु इन दो मित्रों का अभाव मेरे जीवन में सदैव खटकता रहेगा।

मैं बच्चों की संगत में बच्चा बन जाता हूँ और बड़ों में बड़ा जैसे, गुरुवाणी में आया है "राजन में तूं राजा कहिये, जोगन में जोगी, गृहस्थन में तूं बडो, गृहस्थी भोगन में भोगी।"

यह गुण परमात्मा के बताए गये हैं और कहते हैं आत्मा में भी परमात्मा के अंश ही होते हैं। इसलिए मुझ में यह दैवी गुण हैं। मैं उर्दू वालों में उर्दू वाला हूं और हिन्दी वालों में हिन्दी वाला–पंजाबी तो मेरी मातृ-भाषा है ही। फ़ारसी और पश्तो जानता हूँ। हिन्दी उच्चारण में शास्त्रियों और आचार्यों का अनुकरण करता हूं। उर्दू मौलवियों की तरह बोलता हूं और जब अंग्रेज़ी बोलने पर आता हूं तो लोग पूछते हैं आप ने अंग्रेज़ी कानवेंट में सीखी थी क्या ?" अब मैं उन से कैसे कहूं कि कानवेंट से ज्यादा मुझे वह सड़क और पटड़ी प्रिय थी जो कानवेंट से गिरजा-घर तक जाती थी और गिरजा-घर से जो अस्पताल तक और जिस पर मेरे जीवन की कई प्यारी-प्यारी कहानियां बिखरी पड़ी थीं।

"हटाइए सरदार जी, छोड़िए इन कहानियों को। इन्हें आप बहुत दूर लाहौर में

छोड़ आये हैं। मैं जानता हूं लाहौर के नाम पर आप के दिल में एक हूक सी उठती है परन्तु आपका दौलतखाना ......?"

"मेरा दौलत खाना मेरी जेब में है, वैसे मैं पोठोहार ज़िला रावलपिंडी का रहने वाला हूं—पोठोहार की रमणीक धरती ने मुझे जन्म दिया, पाला और पोसा, परन्तु परवान चढ़ने केलिए लाहौर भेज दिया। इसीलिए मैं अपने मित्र देवेन्द्र के कथनानुसार तमाम पोठोहारी खूबियों से वंचित रहा हूं और वे खूबियां क्या हैं यह आप उसी से पूछिए मैं तो यही कहता हूं :

"वख़्शो बी बिल्ली, चूहा लंडूरा ही भला।"

"अब आप भी बख्शिये सरदार जी। आज इतवार है और आप की जुल्फें खुली हुई हैं। महबूब के गेसुओं की तरह आप की जुल्फें एक बार खुल जाने के पश्चात् संवरने का नाम ही नहीं लेतीं।"

"अरे मियां, वह पुरानी कहानी है, अब तो ढ़ाई हाथ बाल रह गए हैं। बाल भी क्या हैं, चांदी के तार हैं—बक़ौल शस्से, गंजी नहायेगी क्या और निचोड़ेगी क्या ?

"यानी आप गंजे हैं ?"

"क्या कहा—गंजा हूं ?"

"जी नहीं। गंज तो फारसी में खजाने को कहते हैं। गँजेकारूं आपने सुना होगा। कारूं के खज़ाने की चावियां चालीस ऊंटों पर लादी जाती थीं।"

"होंगी साहब, मैंने कम से कम इतनी किताबें तो ज़रूर पढ़ी हैं जिनका बोझा चालीस गधे भी न उठा पायें—रही मेरी कृतियां, सो कुल मिलाकर चालीस लायब्रेरियों में भी उपलब्ध न होंगी। हां, चालीस चोर ऐसे अवश्य मिल जायेंगे जिनकी कृतियों में मेरी छाप आप को मिलेगी। इस सम्बन्ध में न मैं कुछ कहता हूं और न मेरे मित्रों की ज़बान ही खुलती है। वाह, मित्रों की भी एक रही, उन्होंने तो मेरी पुस्तकें मेरे आटोग्राफों के सहित, धर्म-पोथियों और कलगी-धर चमत्कारों के नीचे छुपा कर रख छोड़ी हैं। वह इस बात की ताक में हैं कि कब आंख बन्द करे और कब दूसरा दिन। इसके बाद वे मेरी पुस्तकों को निकालें। मुझे खोज कर री-डिसकवर करें और थीसिस लिखें। क्या पढ़ता था क्या लिखता था, पुस्तक के पहले पन्ने पर अपने आटोग्राफ टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में क्यों करता था—हां, साहब यह लोचन बख्शी की लिखित में टेढ़ापन क्यों है ? यह टेढ़े करैक्टर की निशानी है। अजी साहब, बड़ा टेढ़ा आदमी था। अक्ल की बात तो सुनता ही न था। लिखने के मामले में चिरकाल तक अपने मन को मनाता रहा। जब वह नहीं माना तो इसी ने मन की मान ली और चुप साध ली।

"यही अच्छा है। बड़े बूढ़ों ने कहा है कि बोल कर अपनी मूर्खता प्रगट करने से चुप रह कर उसे छुपाए रखना ही अच्छा है।"

"आप फिर अक्ल की बातें करने लगे। देखिए साहब, ज्योंही आपने अक्ल की बात

की वह आप से कहेगा—"हैं तो आप भी मेरे भाई-बन्द; फर्क इतना है कि मैं शक्ल में सिख हूं और आप अक्ल में......लीजिये और बढ़िए और बढ़ाइए दोस्ती का हाथ ।"

"धत्तेरे की ! तुम ने काफी सारी बातें कह डाली हैं और मैं सुनता रहा हूं—अब मैं कहूंगा और तुम सुनोगे–ठहरो मैं ज़रा दाढ़ी पर ठाठा बांध लूं क्योंकि अक्सर मुझे ठाठा बांधकर ही सूझती है ।

जानते हो मेरे मित्र अक्सर मुझे नवाब साहब कह कर पुकारते हैं । पिछले जन्म में ज़रूर नवाब रहा हूंगा वैसे मेरी तबियत में नवाबी ठाट अब भी है । जिस पर रीझ गये, रीझ गये और जो न भाया वह जीवन भर न भाया । मेरे नवाब होने का दूसरा प्रमाण यह है कि मेरे बेटे नवाबज़ादे हैं—बाज़ार से सौदा लाने में, उन्हें झिझक महसूस होती है—हाथ से काम करते हुए उन्हें लज्जा आती है । जब कभी समझाने के लिए अपने जीवन का उदाहरण उन्हें देने लगता हूं तो फरमाते हैं—हां, आप गरीब बाप के बेटे होंगे—हमारा बाप तो गेज़ेटिड आफिसर है ।

गेज़ेटिड आफिसर, हां साहब ! लाहौर में मेरे एक चाचा रहते थे, बड़े मिलनसार और हंसमुख । वाकफियत का दायरा इतना कि सीधे गवर्नर तक पहुंच जाते । एक दिन कहने लगे, "बेटा, अब तुम ने बी० ए० पास कर लिया है—आगे क्या करने का इरादा है ?"

उन्हीं दिनों मेरे मित्रकरतारसिंहदुग्गल लाहौर रेडियो में आ गये थे । जब कभी भी उनसे मिलने जाता, देखता, कि दुग्गल साहब के बड़े ठाट हैं, कभी ड्रामा हो रहा है, तो कभी ड्रामा कास्ट के साथ चाय उड़ रही है । छूटते ही मैंने कहा :

"अंकल, आप इतने रिसोर्सफुल हैं मुझे रेडियो में ही कोई नौकरी ले दीजिये न ।"

"धप्" । एक थप्पड़ मेरे गालों पर पड़ा ।

"सुसरे ! वह तो भड़वों का महकमा है ।" खैर, उस वक्त चाचा ने वह नौकरी तो मुझे न दिलवाई मगर मेरा शौक बटवारे के बाद खुद ही मुझे अपनी मंजिल तक ले आया ।

आज भी कई वर्षों के पश्चात् जब चाचा की बात याद आती है तो दफतर में काम करते हुए कलम हाथ से छूट जाती है और मैं खुद-बखुद गाल सहलाने लगता हूं । सोचता हूं—"स्वर्गीय ने क्या कहा था ?"

दफतर में मेरे मातहत मुझ से खुश रहते हैं । मैं सदा उन से अपने बच्चों का सा व्यवहार करता हूं । अफसर मुझ से नाराज़ रहते हैं क्योंकि मैं 'मस्काबाज़ी' के गुर नहीं जानता । जब कभी किसी को फुसलाने का यत्न करता हूं तो फूंक इतनी कम भर पाता हूं कि गाड़ी चलती ही नहीं और या इतनी ज्यादा भर जाती है कि टायर और ट्यूब दोनों बर्स्ट हो जाते हैं । भट्टा बैठ जाता है और सारा बना-बनाया काम ठप हो जाता है ।

हर रोज निश्चित समय पर घर से निकलना और निश्चित समय पर घर लौट आना अब मेरा स्वभाव बनता जा रहा है । पहली तारीख को वेतन लेकर मैं और मेरा दोस्त मूर्ति एक साथ दफ्तर से निकलते हैं, एक साथ अपनी अपनी टैक्सी लेते हैं । मूर्ति सीधा ठेके पर

चला जा‌ता हूं और मैं अपने घर की ओर जहां मेरी पत्नी और मेरे बच्चे मेरी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं।

मैं एक आज्ञाकारी पति हूं, फरमां-बरदार बेटा हूं, प्यारा बाप हूं और एक घटिया दोस्त हूं। इस पर भी अपनों केलिए पराया हूं और परायों के लिए अपना। कभी-कभी जी बहुत ऊब जाता है। अपने ही घर में अपने को अजनबी समझने लगता हूं। दम साधे कमरे में पड़ा रहता हूं। इस अकारण कुण्ठा को समझने केलिए आतुर हूं। सच कहूं, मेरी कृतियां प्राय: इसी मूड की देन हैं।

पहले इसी मूड में घर से निकल भागता था। न खुद चैन लेता था न दूसरों को लेने देता था। जब तक घर न लौटता, मां और बहन सूली पर टंगी रहती थीं—अब मां की जगह पत्नी ने ले ली है। फर्क इतना है कि मां की डांट फटकारों में ममता थी। पत्नी का कोसना कटु और नीरस जान पड़ता है। बकौल फिकर तौंसवी, अब मैं एक शरीफ आदमी बनता जा रहा हूं। घर गृहस्थी का बोझा ढोते जिसकी कमर दोहरी हो जाती है, जो आखिरी दम तक वफादार खाविन्द, प्यारा बाप, अच्छा पड़ौसी और नेक शहरी बना रहता है।

"अरे भाई, आखरत की बात क्यों करते हो। चश्मे बददूर ! अभी आप की उमर ही क्या है ? अभी आपने किया ही क्या है ? और माफ कीजिये, अभी आप ने लिखा ही क्या है ? धत्त तेरे की......।" ● ● ●

सम्पादक को समस्या

सारी रचनाएं छापी नहीं जा सकतीं, क्योंकि बहुत-सी आहूत होती हैं, बहुत सी अनाहूत, बहुत-सी सहज भाव से आती हैं, बहुत-सी नाज-नखरे और शर्तों के साथ। छापिए तो मुश्किल, न छापिए तो मुश्किल। लौटाइए तो बैर मोल लीजिए। न लौटाइए तो पूंछताछ के उत्तर-प्रत्युत्तर देने के लिए एक क्लर्क रखिए और रद्दी को सुरक्षित रखने के लिए एक अलमारी खरीदिए। दल को छापिए तो दलदल में फंसिए, दलहीन बनिए तो फलहीनता हाथ आती है। फिर कहना होता है—एक अजीब कशमकश है।

डा० जगदीश गुप्त
(संकलन : अमरीक सिंह)

—हमारे तीज-त्योहार

"पनद्युन"

त्रिलोकीनाथ पण्डित

कश्मीर में कश्मीरी-पंडित बहुत से महोत्सव एवं पर्व ऐसे भी मनाते हैं जो भारत के किसी अन्य भाग में नहीं मनाये जाते हैं। इन में दो बड़े रोचक हैं, 'खिचड़ी' अमावस्या एवं 'पनद्युन'। खिचड़ी-अमावस्या का तो ऐतिहासिक महत्व है। और इस के सम्बन्ध में कई विद्वानों ने यदा-कदा कुछ न कुछ लिखा भी है। किन्तु 'पनद्युन' एक ऐसा पर्व है जिसके विषय में जहाँ तक मुझे ज्ञात है, आज तक किसी ने विशेष रूप से कुछ नहीं लिखा। कश्मीर घाटी में यह एक महत्वपूर्ण पर्व माना जाता है। और इस के साथ एक रोचक लोककथा जुड़ी हुई है।

यह पर्व भाद्रपद के शुक्लपक्ष की विनायक चतुर्थी को मनाया जाता है। यदि इस दिन रविवार एवं 'हस्त' नक्षत्र भी आ जाए तो इसे अत्यन्त शुभ माना जाता है। किन्तु अब तो भाद्रपद शुक्लपक्ष के किसी भी शुभ दिन को इस पर्व के मनाने की प्रथा हो चली है। साधारणतया शनिवार और मंगलवार को छोड़कर अन्य सभी दिन शुभ माने जाते हैं। कहा जाता है कि जिस दिन यह पर्व मनाने की रीति आरम्भ हुई थी, उस दिन विनायक चतुर्थी रविवार एवं 'हस्त' नक्षत्र का योग था। इसी कारण ऐसे 'योग' को अत्यन्त शुभ माना जाता है।

इस दिन आटे के साथ शक्कर और घी मिलाकर बड़ी बड़ी रोटियाँ बनाई जाती हैं। जन-साधारण ऐसी रोटियों को 'रोठ' या 'सवासेर' कहते हैं। इसे स्वादु बनाने के लिए इसमें खशखाश आदि भी मिला ली जाती है। 'सवासेर' शब्द से इस बात की भी सम्भावना हो सकती है कि एक-एक रोटी पांच-पांच पाव आटे की हुआ करती थी। यहाँ इस बात का वर्णन करना भी अप्रासंगिक न होगा कि हमारे यहाँ जब भी किसी पर्व पर पूरियाँ बनायी जाती हैं उस समय भी आटे की मात्रा पाँच पाव होना आवश्यक है। अतः 'सवासेर' शब्द का महत्व

पारम्परिक है। किन्तु समय के फेर के कारण इन रोटियों को लघु से लघुतर करने की प्रथा चलने लगी है। इससे इस पर्व की रोचकता में कमी होती जा रही है। 'रोठ' शायद 'रोटी' शब्द का ही कश्मीरी रूप है।

ये 'सवासेर' तैयार होने के उपरान्त परिवार के सभी सदस्य—छोटे, बड़े, वृद्ध, युवा, बच्चे, स्त्री, पुरुष—लीपन किये हुए एक पवित्र स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं। एक कोने में पानी से भरा हुआ एक पात्र रखा जाता है, जिस को एक रोटी से ही ढांप दिया जाता है। उसके ऊपर फिर एक स्वच्छ, पवित्र वस्त्र लपेटा जाता है। फूलों के अतिरिक्त दो अन्य चीज़ें भी इसमें डाली जाती हैं। एक चाँदी का सिक्का या ज़ेवर तथा दूर्वा (एक विशेष प्रकार का घास, जो लम्बा और गाँठदार होता है जिसे कश्मीरी में 'द्रमुन' कहते हैं)। यह घास पशुओं के लिए बहुत ही उत्तम माना जाता है क्योंकि यह बड़ा शक्तिदायक है। चाँदी के सिक्के को प्रायः रोटियाँ बनाने वाली बहू को दे दिया जाता है।

परम्परानुसार इस दिन परिवार का एक सदस्य व्रत धारण करता है। देखा जाता है कि प्रायः स्त्रियाँ ही इस व्रत को धारण करती हैं। उपरोक्त जल-पात्र को इष्टदेव स्वरूप माना जाता है और टीका करके विधिपूर्वक इसकी पूजा की जाती है। श्रद्धापूर्वक पूजा करने के उपरान्त परिवार के सभी सदस्य हर्ष का अनुभव करते हैं और अपनी-अपनी मनोकामना पूर्ण हुई स्वीकार करते हैं। इस अवसर पर घर की वृद्धा स्त्री इस पर्व से सम्बद्ध लोककथा सुनाती है और सभी सदस्य भक्तिपूर्वक इस कथा को सुनते हैं। कथा के अनन्तर नैवेद्य चढ़ाया जाता है। यह नैवेद्य उस समय उपलब्ध सभी प्रकार के फल मेवों का होता है। प्रायः कश्मीरी मेवे ही प्रयोग में लाए जाते हैं। विधिवत मन्त्रोच्चारण के साथ साथ अर्घ्य, पुष्प, 'द्रमुन' (घास) और रोटियों से इष्टदेव की पुनः पूजा की जाती है और सभी व्यक्ति अपनी-अपनी इच्छा गुप्त रूप से पूर्ण होने की प्रार्थना करते हैं। पूजा के वाद सर्वप्रथम इसी नैवेद्य को बाँटा जाता है। उसके बाद 'सवासेर' रोटियों को खाया जाता है। इष्टदेव पर चढ़ाया हुआ भोग या तो पुरोहित को समर्पित किया जाता है या किसी अन्य हिन्दू को जो सगोत्र न हो। इसके बाद ये रोटियाँ विषम संख्या (१, ३, ५ आदि) में बिरादरी वालों एवं अपने अन्य सम्वन्धियों में बाँटी जाती हैं। सभी लोग इस नैवेद्य के पहुँचने की बड़े चाव से प्रतीक्षा करते हैं।

इस पर्व से सम्बद्ध वह प्राचीन लोक कथा इस प्रकार है :

कहते हैं कि एक स्थान पर एक वृद्धा स्त्री और उसकी एकमात्र कन्या अत्यन्त निर्धनता के कारण कठिनाई से अपने दिन व्यतीत करती थीं। वे समीप ही के एक सम्पन्न व्यक्ति के घर पर उनकी सेवा करके अपना निर्वाह करती थीं। वे मालिक के घोड़ों को भी चराती थीं। इस प्रकार अपना कर्त्तव्य निभाने के उपरान्त यदि उनको अवकाश मिलता तो ईश्वर भजन करतीं। अपने मुहल्ले में उनका एक सम्पन्न हमसाया था। उसके घर इन माँ-वेटी का आना जाना होता था।

यह कन्या एक दिन उनके घर कांगड़ी (अग्निपात्र) लेकर आग लाने केलिए चली गई। वे लोग वहाँ इसी 'पन' महोत्सव की पूजा में लगे हुए थे। अतः उन्होंने इस कन्या को प्रतीक्षा करने को कहा, क्योंकि पर्व समाप्ति से पहले घर से आग नहीं दी जा सकती थी।

यहां यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि किसी भी उत्सव के दिन जब तक पूजा इत्यादि समाप्त नहीं की जाती तब तक वहां जलायी हुई अग्नि का कोई भी भाग बाहर नहीं ले जाया जाता। कहते हैं कि ऐसा करने से अग्नि अपवित्र हो जाती है । इस प्रकार समाप्ति तक उस कन्या को रुकना पड़ा और उसने भली प्रकार इस उत्सव के मनाने की विधि देखी। अन्त में उसको भी नैवेद्य दिया गया। उस में से थोड़ा स्वयं खाकर उस कन्या ने शेष भाग अपनी माता केलिए रख लिया। फिर पात्र में अग्नि लेकर अपने घर लौटी।

माता ने देर से लौटने का कारण पूछा तो कन्या ने सारा वृत्तान्त सुनाया। मां ने बड़ी गम्भीरता से सारा हाल सुना और लगी कुछ विचारने। कन्या ने झट उसके मन का भाव समझ लिया और यह प्रस्ताव रखा कि 'हम भी यह पर्व मनाएंगे।' माता ने गहरा निश्वास भर कर उत्तर दिया--"बेटी ! इष्टदेव को प्रसन्न करने की किसके मन में इच्छा नहीं ? किन्तु इसके लिए खर्चा कहां से लाएंगे ? इतनी कठिनाई से तो पेट भरने के लिए हम दो जून भर जुटा पाती हैं।" कन्या ने कुछ देर विचार करने के बाद माता को एक युक्ति बतलाई। माता सुन कर अपनी एकमात्र पुत्री की बुद्धिमत्ता की सराहना करने लगी।

अपने मालिक के घोड़ों को चराते समय वे उनकी लीद (गोबर) जमा करने लगीं। घोड़े जो 'दाना' खाते थे, उसमें से कुछ जौ के दाने उनके गोबर के साथ निकलते थे। वह कन्या और उसकी माँ इस लीद को धोकर उसमें से वे जौ के दाने साफ करके एकत्र करने लगीं। कई दिन के परिश्रम के बाद वे बड़ी कठिनाई से पांच पाव जौ एकत्र करने में समर्थ हुईं। उसे सुखा कर उन्होंने आटा बनाया और थोड़ा सा घी शक्कर मांग कर उसमें मिलाया। इस प्रकार अपने उद्यम से उन्होंने भी अपने इष्टदेव की पूजा की और उस उत्सव का नैवेद्य खाया। कई वर्ष तक वे इसी प्रकार इस पर्व को मनाती रहीं।

उनकी श्रद्धा और भक्ति अन्त में सार्थक सिद्ध हुई। दैवयोग से एक बार वहां का राजकुमार उधर से गुज़रा। उसने नदी तट पर उस कन्या को देखा। इसके साथ कुछ बातें करने के बाद उस राजकुमार को विदित हुआ कि यह कन्या रूपवती होने के साथ-साथ गुणवती भी है। वह मन ही मन उस पर मोहित हुआ किन्तु उस कन्या से उसने कुछ न कहा। राजमहल में लौटने के उपरान्त उस राजकुमार ने अपने माता पिता के सामने अपने मन की इच्छा प्रकट की। पहले तो वे लाल-पीले हुए। किन्तु अन्त में राजकुमार के हठ के कारण उन को स्वीकृति देनी पड़ी।

राजा की ओर से उसका पुरोहित विवाह का प्रस्ताव लेकर जब कन्या की माता के पास पहुँचा, तो माता को अत्यन्त विस्मय हुआ। उसके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि कदाचित यह ब्राह्मण देवता रास्ता भूल गया है। किन्तु ब्राह्मण के सविस्तार सारे वृत्तांत को समझाने पर माता ने बड़ी कठिनाई से इस बात पर विश्वास करके सहर्ष स्वीकृति दे दी। मुहूर्त निश्चित करने के उपरान्त बड़ी धूमधाम से कन्या का विवाह उस राजकुमार से सम्पन्न हुआ। इस प्रकार दोनों माँ बेटियों के दिन फिर गए और वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगीं।

समय वदलते देर नहीं लगती । राजा का देहान्त होने पर राजकुमार राजा वन गया। धन, यौवन और अधिकार की मस्ती में वह वड़ा गर्व अनुभव करने लगा। ऐसी दशा में कितने ही व्यक्ति गिर जाते हैं, अपनी पुरानी रीति-रिवाजों की अवहेलना करने लगते हैं। राजकुमार जो महाराजा बन चुका था अपनी रानी की भी अवहेलना करने लगा।

एक बार जवकि रानी अपने ''पन'' महोत्सव की पूजा कर रही थी, राजा वहां उपस्थित हुआ। उसने बड़ी निर्दयता से रानी और उसके इष्ट देव का अनादर किया और बोला—''आखिर गँवारू लड़की गँवारू उत्सव ही मनाती है।'' रानी का मन अत्यन्त दुखी हुआ किन्तु वह कर ही क्या सकती थी।

दैवयोग से उसी वर्ष दूसरे राज्य के प्रतिपक्षी राजा ने इसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। बड़ी घमासान की लड़ाई हुई किन्तु प्रतिपक्षी राजा विजयी हुआ। पराजित राजा को रानी के साथ भागना पड़ा, और उन्होंने किसी वन में गुप्त रूप से शरण ली।

उस जंगल में बड़ी दरिद्रता से वे अपने दिन व्यतीत करने लगे। किन्तु वहां पर भी रानी ने अपने सेवा भाव से अपने पति के मन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सब कुछ अनुकूल देखकर रानी ने पुन: प्रस्ताव रखा कि वे अपने उस प्राचीन महोत्सव को यहां भी मनाएं। राजा ने भी स्वीकृति दे दी। इस प्रकार वन में ही वह शाही दम्पति इस पर्व को मनाने लगे। कई वर्ष व्यतीत हुए। प्रति वर्ष वे लोग उस उत्सव को नियमपूर्वक मनाते रहे।

एक दिन एक लकड़हारा लकड़ी काटते-काटते उसी स्थान पर जा पहुँचा। उसने जब राजा रानी को देखा तो पहचान लिया। विधिपूर्वक प्रणाम करने के बाद उसने उनका मंगल कुशल पूछा और उन्हें वताया कि उनका प्रतिपक्षी राजा मृत्यु को प्राप्त हो गया है और सारे देश में अराजकता फैली हुई है। राजा ने इस लकड़हारे के द्वारा अपने एक विश्वासपात्र मंत्री को सन्देश भेजा। मंत्री ने यह वात दूसरे मित्रों को सुनाई। अपने कृपा पात्र राजा को जीवित सुनकर सभी ने हर्ष का अनुभव किया। फिर गुप्त रूप से एक योजना रचकर उन्होंने अपने राजा को पुन: राजधानी लौटने के लिए निमन्त्रित किया। राजसेना से एक छोटी मुठभेड़ के वाद राजा को पुन: गद्दी पर बिठाया गया। इस प्रकार निर्वासित राजा रानी ने पुन: शासन का अधिकार पा लिया। दोनों ने अपने इष्टदेव की आराधना की और 'पनद्युन' महोत्सव के महत्व को स्वीकार किया। उस दिन से लेकर यह पर्व वे बड़ी धूमधाम से मनाने लगे। जिस किसी ने सुना, हर्ष का अनुभव किया। कहते हैं कि इसी प्रकार कितने ही दुखियों और दरिद्रों का दु:ख दारिद्रय इस पर्व को भक्तिभावना के साथ नियमपूर्वक मनाने से दूर हुआ। यही कारण है कि एक बार इस पर्व को मनाने की रीति स्वीकार करके, फिर छोड़ देने को किसी का भी साहस नहीं होता। यही कारण है कि आजकल भी बहुत से कश्मीरी पण्डित परिवार इस पर्व को रीति ही मानकर मनाते चले आ रहे हैं और उत्सव की समाप्ति पर यह प्रार्थना करते हैं—''हे देव! जिस प्रकार आपने उन राजा रानी के दु:खों का अपहरण करके उनका जीवन सुखमय बना दिया था, उसी प्रकार हमारे दु:ख-दारिद्रय को भी मिटा कर हमारे जीवन को सुख-सम्पन्न बना दीजिए।''

अन्त में यदि हम इस लेख के शीर्षक की व्याख्या न करेंगे, तो कदाचित यह लेख

अधूरा रहेगा ।

'पन' शब्द के कश्मीरी भाषा में दो अर्थ हैं, एक 'धागा', दूसरा 'पत्ते' । मोटे तौर पर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों अर्थों का परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं । किन्तु यहां के कश्मीरी-पण्डितों की विचित्र कल्पना को देखिए कि इन दोनों वस्तुओं का उन्होंने अपने इस पर्व से सम्बन्ध स्थापित किया है । 'द्युन' शब्द का अर्थ है देना, अर्थात मनाना ।

इस पर्व पर जो सवासेर रोटियाँ बनाई जाती हैं, वे मोटी होती हैं । साधारण तवे पर वे पूर्णरूप से पकाई नहीं जा सकतीं । अन्दर से कच्ची ही रहेंगी और बाहर से जल जाएंगी । अत: मिट्टी के ही तवे बनाए जाते हैं, जो नानवाई की भट्ठी की भाँति इन रोटियों को भली-भाँति पका सकते हैं । किन्तु मिट्टी की मैल कहीं रोटियों से चिपक न जाए, उस तवे पर सब्ज़ पत्ते, जो प्राय: प्रसिद्ध चिनार वृक्ष के होते हैं, रखे जाते हैं और उनके ऊपर रोटी रखी जाती है । यही कारण है कि इस पर्व के आने पर आप देखेंगे कि चिनार वृक्ष के सब्ज़ पत्ते काफी मात्रा में काटकर लाए जाते हैं । यह रीति प्राचीन और वास्तविक है । अब तथा-कथित आधुनिक सभ्यता के कारण इन रोटियों को पूरियों की भाँति घी में भिगो कर तल लिया जाता है, किन्तु अधिकतर परिवार पुरानी रीति को ही अपनाए हुए हैं ।

'पन' का दूसरा अर्थ धागा है । इस पर्व पर जिस पवित्र जल पात्र की पूजा होती है, उस के इर्द-गिर्द एक सूती धागा भी बाँधा जाता है । और जो व्यक्ति इस दिन व्रत धारण करता है, उसके कान के ऊपर से भी यह धागा बांधा जाता है । यही वास्तविक परिपाटी रही है । यह धागा कोई साधारण धागा नहीं होता है । इस धागे को नई तैयार हुई कपास से कात कर बनाया जाता है । इस धागे को एक अविवाहित कन्या कातती है । वही धागा इस त्यौहार पर प्रयोग में लाया जाता है । यदि किसी कारणवश नई कपास प्राप्त न हो सके, तो पुरानी कपास से ही काम चलाया जा सकता है, किन्तु यह धागा कुमारी कन्या द्वारा ही काता जाना चाहिए । इस नियम में किसी भी प्रकार का विकल्प करना सम्भव नहीं । यह है संक्षेप में 'पनद्युन' के महोत्सव का वर्णन, जिसे आजकल भी कश्मीरी-पण्डित समाज बड़े चाव और भक्ति-भावना से मनाता है ।

● ● ●

अग्नि का एक ठांव

आनन्दप्रकाश जैन

दार्शनिक पक्ष से जीवन को धारण करने वाली वस्तु का नाम धर्म है, व्यक्ति की धारणा को धर्म कहते हैं अथवा मनुष्य गतिमय और परिवर्तनशील विश्व में जिस भौतिक या अभौतिक स्थिति पर टिककर विश्राम लेने का क्षणिक प्रयत्न करता है, उसका नाम धर्म है इसे रणवीर नहीं जानता था। दैनिक व्यक्तिगत या राष्ट्रीय आन्दोलन में धर्म का जो विकट रूप दिखाई देता है, रणवीर उसे अवज्ञा और उपेक्षा की दृष्टि से देखता था।

इसी प्रकार 'प्रेम' शब्द के अर्थों के बारे में भी रणवीर की धारणा कोई बहुत बढ़िया नहीं थी। पहली प्रेयसी जो उसने बनायी उस केलिए किन मधुर या अमधुर घटनाओं से उन्हें होकर गुज़रना पड़ा, यह इस कहानी का उद्देश्य नहीं है। किन्तु स्थिति जम जाने पर उसने सबसे पहले जो प्रश्न उससे किया, वह था "यह प्रेम, क्या विवाह के रूप में अन्त होने केलिए ?"

जैनी ने उत्तर दिया, "मैं ईसाई और तुम हिन्दू ! विवाह ? असम्भव !" लेकिन रणवीर ने नोट किया कि इस उत्तर में उपहास था। किसके बारे में था, यह पहले ही लिखा जा चुका है।

रणवीर ने गम्भीर ही बने रह कर कहा, "चाहती हो ?"

"क्या ?" पूछा गया।

"विवाह ?" रणवीर ने फिर स्पष्ट किया।

"क्या प्रेम का अन्त होने केलिए ?"

जैनी हंसी और इस बात पर हंसते-हंसते लोटपोट हो गई।

जैनी विवाह को प्रेम का अन्त मानती थी, आरम्भ या बीच, इस बात पर तब

तो विशेष वाद-विवाद नहीं हुआ। फिर जिस दिन सांसारिक मान-सम्भ्रम बनाये रखने केलिए रणवीर के विवाह का विशाल ठाट-बाट जुड़ा और विशेष मान-मर्यादा वाले लोगों ने एक ईसाइन लड़की को संभ्रान्त मेहमानों की कक्षा में बैठा पाया तो प्रकट—परोक्ष खासी तरह से नाक-भौं चढ़ाई।

सुवासित हिना से वस्त्रों को सुगन्धित किए बहुत सी कोमलांगी नवयुवतियों ने विवाह-मण्डप के आधुनिक वातावरण की शोभा बढ़ाई थी। इस सोसायटी में आपसी परिचय एक तो प्रत्यक्ष—'आप अमुक, आप अमुक', की तरह कराया जाता है और एक कराया जाता है परोक्षत:। असली परिचय यही होता है।

जैनी के इस परोक्ष परिचय से मनोरन्जित हो कर जब रणवीर और उसकी प्रेम कहानी को पफ़-पाउडर से लिपे-पुते मुखों के दोनों ओर स्थित पहरेदारों ने बिना सैन्सर के पास कर दिया तो लज्जा और करुणा के मारे उनके गालों से लेकर कनपटी तक एक-एक लाल रेखा खिंच गई। करुणा इसलिए कि बिना उसके प्रदर्शन के इस सुमधुर, सुकर्णगोचर गाथा की बारीकियों को खोदा नहीं जा सकता था।

जैनी को सुनाते हुए एक अग्रगामिनी ने कहा, "औफ्! कितनी बड़ी ट्रैजेडी है!"

जैनी ने समुचित उत्तर प्रश्न के रूप में दिया, "और आप के जीवन में यह ट्रैजेडी कब होने जा रही है?"

यह बात आगे नहीं बढ़ी, क्योंकि न जाने किसका आदेश पाकर बैंड-बाजे वालों ने अपना कला-प्रदर्शन आरम्भ कर दिया।

संस्कृतगर्भित, न समझ में आने वाले मंत्रों के बल से रणवीर बहू को खींच लाया। बहू के आने-जाने में कुछ दिन बीत गये।

शाम को जैनी को टैनिस के दो गेम से हरा कर जिस समय पसीने से लथपथ रणवीर ने अपने लम्बे-चौड़े सजे हुए मकान में पग रखा, बहू, रामचन्द्र जी की आरती के लिए धूप-दीप थाली में सजाए मन्दिर जाने की तैयारी कर रही थी। रणवीर ने पूछा, "रंजना, कहां को?"

रंजना ने उत्तर दिया, "कहीं नहीं, जरा रामचन्द्रजी के मन्दिर तक!"

गले से मफ़लर उतार कर खूंटी पर टांगते हुए रणवीर ने तनिक हास्य से कहा, "भगवान की खुशामद करने?"

रार न बढ़ाकर रंजना ने उत्तर दिया, "हां!"

रणवीर ने उसी उपहास के स्वर में कहा, "पण्डितों ने कहा है कि यदि पति को ही भगवान की जगह समझोगी तो शायद कुछ अधिक पा जाओगी!"

रंजना ने कहा, "पत्नी होने के नाते जो अधिकार मिलता है, अभी वही पाना शेष है।" वह थाली लेकर चली गई और रणवीर ने समझ लिया कि जैनी का परोक्ष परिचय रंजना से भी करा दिया गया है।

अगले दिन रणवीर टैनिस के बाद भी रात के दस वजे तक घर नहीं आया। रंजना सो गई। आहट से जिस समय चौंक कर आंखें खोलीं तो रणवीर कोट उतार रहा था। पूछा, "कहां थे अब तक ?"

"यहीं जरा एलफिंस्टन तक, जैनी साथ थी, इसलिए चला गया था।" रणवीर ने सीधे-सीधे कहा।

रंजना ने कहा, "कल यदि मैं किसी के साथ एलफिंस्टन तक हो आऊं, तो आपको तो कोई एतराज न होगा ?"

"क्या एतराज हो सकता है ?" रणवीर ने पूछा, "तुम रोज भगवान की खुशामद करने जाती हो, मैंने कभी एतराज किया है ?"

"आप भी मन्दिर चले जाया कीजिए ना !" रंजना ने कहा।

"तुम तनिक जैनी से हेलमेल बढ़ाओ। पत्थर की मूर्ति से ज्यादा भावना का दर्शन तुम्हें उसके हृदय में मिलेगा।"

"तब क्या मैं भी जैनी की तरह पराए मर्दों से टैनिस खेला करूं और उनके साथ सिनेमा देखती फिरूं ?" रंजना ने क्षोभ से पूछा।

"अरे रानी", रणवीर बोला, "मर्द भी कभी किसी के अपने या पराए हुए हैं ? मानो तो अपने, नहीं तो पराए।"

"जैनी मानती है ?" रंजना ने व्यंग्य किया।

"जैनी सारे संसार को अपना मानती है। तुम भी उसी प्रकार मानने का यत्न करोगी तो दिव्य दृष्टि प्राप्त करोगी।"

"हुं !" रंजना चिढ़ गई।

× × ×

जैनी ईसामसीह के बजाए उनके मानव प्रेम में अधिक विश्वास रखती है। रणवीर विवाह के बाद भी उसके साथ ही अधिक समय विताता। जैनी ने उससे एक दिन कहा, "तुम्हारी पत्नी को तुम्हारा यह व्यवहार कैसा लगता है ?"

"औरतों के अन्दर डाह करने की पुरानी आदत है !" रणवीर ने कहा।

"मेरे अन्दर भी ?" जैनी ने पूछा।

"शायद स्वतन्त्र नारी के अन्दर यह बात नहीं होती !"

"जब आप स्वयं स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, तो अपनी पत्नी को भी स्वतन्त्र कीजिए न।" जैनी ने कहा।

"यह धारणाओं का वन्धन है जैनी, जिससे मनुष्य चाहते हुए भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मेरे स्वतन्त्र कर देने से उसका वही हाल होगा जो परकटे पंछी का पिंजरे से बाहर निकाल देने पर होता है। उसका आश्रय का आधार भी टूट जाएगा।" रणवीर ने एक लम्बी सांस ली।

"क्या तुम धारणाओं के बन्धन से मुक्त हो ?" जैनी ने पूछा।

रणवीर ने उत्तर दिया, "नहीं तो, मेरे अपने विश्वास हैं !"

"तब ध्यान रखना", जैनी ने चेतावनी के स्वर में कहा, "तुम्हारे विश्वासों को ही किसी दिन ठेस लग कर पर न कट जायें।"

"मेरा विश्वास धारणाओं को ठेस लग जाने पर, उन्हें तोड़कर नयी बना लेने में है।" रणवीर ने जोर से अट्टहास करके बातचीत की गम्भीरता तोड़ दी।

रणवीर ने घर में एक बवण्डर खड़ा कर दिया है। जिसने सुना वही सिर पीट कर रह गया। दादी ने कहा, "क्या इसी दिन के लिए जन्म दिया था ?" बाबा ने कहा, "लड़के का दिमाग फिर गया है।"

और रणवीर ? उसने घोषणा की है कि वह ईसाई होना चाहता है। रंजना ने बातचीत करने का अवसर पाते ही कहा, "ईसाई बनोगे ?"

रणवीर ने हामी भरी।

रंजना ने कहा, "उसी मिसिया के कारण ?"

रणवीर ने कहा, "और भी कुछ सोच सकती हो ?"

"सोच क्यों नहीं सकती," रंजना ने व्यंग्य किया, "यही कि आपने सारे हिन्दू शास्त्रों और वेदों का पठन-पाठन करके जो ज्ञान प्राप्त किया है वह बाइबिल के ज्ञान की अपेक्षा तुच्छ है और इसीलिए . . . .।"

"नहीं, रंजना, यह बात नहीं है। ईसामसीह का मानव प्रेम देख कर ही मैं ईसाई होना चाहता हूं। ठीक है कि मैं नहीं जानता धर्म क्या है, दर्शन क्या है। मैं एक साधारण आदमी हूं और एक साधारण व्यक्ति किसी धर्म के मानने वालों के व्यवहार से ही उनके धर्म और दर्शन का अनुमान लगा सकता है। हिन्दुस्तान के छः करोड़ अछूतों की वर्तमान दशा देख कर उनके धर्म का अनुमान भली प्रकार हो जाता है। इसीलिए......।"

"ईसाई धर्म के मानने वाले ही डेढ़ सौ बरस तक हिन्दुस्तान का खून चूसते रहे हैं और जब छोड़ा तो हड्डियों में मांस की एक बोटी भी बाकी न थी। चालीस करोड़ इन्सानों को जो भूखे भेड़ियों की तरह नोच-नोच कर खा गये, वही ईसाई धर्म हिन्दू धर्म से श्रेष्ठ है—क्या कहने।"

रणवीर ने शान्ति से कहा, "वह राजनीति है, रंजना। आर्यों ने कितने द्राविड़ों को मार कर अपना राज्य स्थापित किया—हिन्दुओं ने कितने क्रीत दासों की पीठ पर अपने राज्य बनाये—इन सब का लेखा-जोखा रखने से मनुष्यों के सामाजिक आचार-व्यवहार को यदि परखा जा सकता है, तो हिन्दू भी किसी से पीछे नहीं रहे।"

"काश ! आप पहले ही से यह सब कर चुके होते। एक स्त्री का जीवन तो बच जाता।"

"जो मनुष्य-समाज व्यक्ति की भूल का परिमार्जन करने केलिए राह नहीं छोड़ता,

उसकी सदस्यता जितनी जल्दी छोड़ दी जाय उतना ही अच्छा है। तुम मेरी ओर से स्वतन्त्र हो।"

"आपको लाज नहीं आती ? अग्नि के चारों ओर प्रदक्षिणा देने से पहले क्या आपने यही वचन दिये थे ?" रंजना ने कहा—"ध्यान रखना, नारी की अग्नि का एक ही ठांव होता है।"

रणवीर बोला, "शादी से पहले कोई वचन भी दिये थे ? मुझे तो याद नहीं आता। तुम उन्हें तो नहीं कहती कि जो पण्डित जाप सा कर रहा था, संस्कृत में ?"

रंजना क्षुब्द हो गई। रणवीर सीमा से अधिक बढ़ रहा था। फिर उसने कुछ नहीं कहा—रणवीर बाहर बैठक में आया तो बाबा के बुलाए पण्डित पहलवान ने लाठी जमीन पर ठोक कर कहा, "बाबा कहत हन कि बैटवा सास्त्रार्थ करिबे को चाही। अब तौन अपनी बाणी छेड़ब और हम को काटब।"

रणवीर ने बाबा की तरफ देखा। उन्होंने कहा, "हां, बड़ा चला है क्रिस्तान होने।"

रणवीर ने खड़े-खड़े ही पण्डित से कहा, "पण्डितजी, मुझे और तो कुछ डर नहीं, लेकिन अगर आप हार गए तो क्या होगा ?"

पण्डित जी ने गर्दन हिलाई, "अस होई नाय सकत, सरत रख लेव।"

"अच्छा शर्त यह रही, पण्डित जी, कि यदि मैं हार गया, तो मैं विष्णु भगवान के एक लाख जप करूंगा और आपको पांच गायें इनाम में दूंगा।"

पण्डितजी प्रसन्न हो गए—बोले, "जीते रहो, बेटा।"

रणवीर ने कहा, "और अगर आप हार गये तो......तो आप क्रिस्टान्न हो जायेंगे, पण्डिताई छोड़ देंगे......।"

"च् च् च् च् च् !" करते हुए पण्डितजी ने घर की राह ली।

बाहर गए हुए रणवीर के पिता ने आकर जब यह सुना तो आग-बबूला होकर बन्दूक उठा ली और पागलों की तरह रणवीर को जहां-तहां ढूंढते फिरते रहे।

रणवीर का बपतिस्मा हो गया और रंजना भरे सुहाग में वैधव्य भोगने केलिए अपने मायके चली गई। रणवीर से कहती गई कि "जिस दिन दिमाग ठीक हो जाय बुला लेना।"

रणवीर को ईसाई धर्म की ओर उसका मानव प्रेम खींच रहा था अथवा पीछे की ओर से जैनी की निकटता का लोभ, इसे वह भी स्पष्टत: नहीं जानता था।

यही बात साफ-साफ उस दिन पता चली, जिस दिन रणवीर को अचानक घर पर आया देख जैनी ने पास बैठे हुए अपने एक नए मित्र से उसका परिचय कराया, "आप हैं मि० हरबर्ट मिचैल। आप एक नई सिनेमा कम्पनी स्थापित करने जा रहे हैं। मेरे नये किन्तु गहरे दोस्त।"

रणवीर का दिल तड़प गया, बहुत देर तक मन में केवल दो बातें घूमती रहीं,

"नई सिनेमा कम्पनी स्थापित करने जा रहे हैं--मेरे नये किन्तु गहरे दोस्त !"

उन्हीं मित्र की अनुपस्थिति में रणवीर ने जैनी से पूछा, "जैनी, तुम बदल तो नहीं रही हो ?"

जैनी ने हंस कर कहा, "बदलता तो हरेक आदमी रहता है, लेकिन तुम्हारे लिए जिस दिन बदलूंगी, उस दिन तुम्हें खबर दे दूंगी।"

लेकिन इसमें बदलना क्या था ? जैनी ने रणवीर के प्रेम को तिरस्कृत नहीं किया था। जैनी स्वतन्त्र थी, धारणाओं में भी और व्यवहार में भी। जैनी मात्र एक मनुष्य को अपने मनोरंजन का साधन नहीं समझती थी और सबसे बड़ी बात यह कि वह किसी के ऊपर आश्रित नहीं थी। उसका प्रेम साहचर्य के बदले में साहचर्य चाहता था, आश्रय नहीं।

रणवीर ने यह सब बातें सोचीं ओर चुप रहा। जैनी के साथ सिनेमा देखने जाता तो चुप रहता। दफ्तर में जैनी और वह साथ-साथ जाते। यहां बहुत पहले की तरह मैनेजर और टाइपिस्ट का नाता चलने लगा।

तभी एक दिन रंजना की चिट्ठी आई--"अब यदि आप शुद्धि करा लें, तो मैं पिछली सब बातें भुला दूंगी।" इसके पीछे रंजना के अभाव की तड़पन बोल रही थी। रणवीर ने "हूं" कर चिट्ठी फाड़ दी।

तीन मास और व्यतीत हो गये। रणवीर ने इस बीच भरसक प्रयत्न किया कि वह अपनी चोट खाई हुई भावना की झलक जैनी को न लगने दे।

एक दिन जैनी ने उसे सूचना दी, "हम लोग जा रहे हैं, रणवीर, तुम्हारा प्रेम कभी भूल नहीं सकूंगी।"

"हम लोग ! हम लोग कौन और कहां को ?" आश्चर्य से रणवीर ने पूछा।

"मैं और हरबर्ट ! बम्बई को--मैं उनकी आने वाली फिल्म में काम करने जा रही हूं।"

रणवीर धक् से रह गया--विजड़ित स्वर में बोला, "दूर रह कर प्रेम का दम भरोगी, जैनी ? तुम्हारे इस व्यवहार से मेरे विश्वास को कितनी ठेस लगेगी, तुमने यह नहीं सोचा ?"

इतने में हरबर्ट आ गया। उसने चलने के लिए जल्दी मचाई। जाते-जाते जैनी ने केवल इतना कहा, "तुम्हारे विश्वास केलिए मुझे उतनी अधिक चिन्ता नहीं है। विश्वासों को ठेस लगने पर तुम्हारा विश्वास उन्हें तोड़ कर नये बना लेने में है", और हंस दी।

जैनी चली गई। शायद सदा केलिए। लेकिन चलते-चलते रणवीर के जिस विश्वास की बात वह कह गई थी, वह उसे ही तोड़ कर नया बना लेने में असमर्थता अनुभव कर रहा था।

अनमना-सा होकर ठिकाने पर आया तो कमरे में एक स्त्री की पीठ दिखाई दी। रणवीर ने बाहर ही से पुकारा, "कौन है ?"

"मैं हूं !" रंजना ने घूम कर कहा और रणवीर के चरणों में सिर देकर बोली, "मैं विधवा नहीं होना चाहती। तुम ईसाई हो या हिन्दू, मेरे देवता हो। मैं इन चरणों से अलग नहीं हो सकती, मुझे धर्म और दर्शन की परवा नहीं है।"

उसे उठा कर, छाती पर उसका सिर रख, उस पर हाथ फेरते हुए रणधीर सोच रहा था कि स्वतन्त्रमना जैनी ने कुछ दिया, क्या रणवीर की धारणाओं के अनुसार वह गलत था ? और इस नारी की अग्नि जो एक ही ठांव जल रही है, सो ? ● ● ●

मां और बेटी

मेरे गांव में एक विधवा और उसकी बेटी रहती थी। दोनों को नींद में चलने का रोग था। एक रात को मैंने देखा कि वे दोनों नींद में चलती हुई मेरे बाग़ में आ गईं जहाँ धुंध छाई हुई थी। माँ ने बेटी से कहा— "मुझे पता चला है कि मेरी असली शत्रु तू है। तूने मेरी जवानी बर्बाद की, तूने मेरे जीवन के खण्डहर पर अपनी ज़िन्दगी की इमारत खड़ी की। अगर मेरा बस चले तो मैं तुझे मार डालूँ।"

बेटी ने कहा "ए खुदग़रज बुढ़िया, तुझ पर खुदा की मार पड़े। तू मेरी और मेरी स्वाधीनता के बीच दीवार बन कर खड़ी हो गयी है, और मेरी ज़िन्दगी को अपनी ज़िन्दगी की तरह बर्बाद कर देना चाहती है। खुदा तुझे मौत दे दे !"

उसी वक्त एक मुर्ग़ ने अजान दी और वे दोनों औरतें जाग गयीं।

बुढ़िया ने बड़े प्यार से कहा—"अरे ! यह तुम हो—मेरी अच्छी बेटी !"

और लड़की ने भी बड़े प्यार भरे स्वर में उत्तर दिया—"जी हाँ, ...मेरी प्यारी अम्मां !"

— खलील जिब्रान
(संकलन : अमरीक सिंह)

फिल्म—दसवीं कला

स्वरूप, स्वभाव और प्रकृति

अरुण कौल

[श्री अरुण कौल नवोदित फिल्म निर्देशक और फिल्मों के जाने-माने समीक्षक हैं। फिल्मों के कलात्मक पक्ष पर जितना इन्होंने लिखा, शायद ही किसी एक व्यक्ति ने लिखा हो। 'इंडियन फिल्म डायरेक्टर्स एसोसियेशन' के संयुक्त मंत्री और बम्बई के 'फिल्म-फोरम' के संस्थापक मंत्री हैं। देश के 'फिल्म-सोसायटी आंदोलन' में इनका अपना स्थान है। आजकल राज्य में 'फिल्म सोसायटी' संगठन में प्रयत्नशील हैं। इन्हीं के निर्देशन और सहकार से हमारे राज्य की 'अकादमी' और बम्बई के 'फिल्म फोरम' के संयुक्त तत्वावधान में जम्मू प्रदेश में २१ फरवरी से २७ फरवरी तक कला-फिल्मों के अन्तर-राष्ट्रीय समारोह का आयोजन हो रहा है। पिछले दिनों इन्होंने 'राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद' के लिए ख्वाजा अहमद अब्बास की संस्था 'नया संसार इन्टरनैशनल' की ओर से 'डाक्यूमेन्ट्री' फिल्म बनायी है। सम्प्रति डुग्गर प्रदेश की अनुपम धरोहर डोगरी कलम से बने चित्रों और भित्तिचित्रों पर रंगीन डाक्यूमेन्ट्री का आयोजन कर रहे हैं। —सम्पादक]

प्रसिद्ध फिल्म समालोचक 'बेला बेलास' ने 'फिल्म' की व्याख्या करते हुए अपने एक शोध ग्रन्थ में लिखा है—''यदि 'होमर' और 'कालिदास' आज जीवित होते तो महाकाव्य लिखने के बदले फिल्म-माध्यम की ओर लक्ष्य करके कहते—यही हमारा माध्यम है. यही हमारी अभिव्यक्ति का साधन है, इसी की हमको तलाश थी।'' यदि होमर और कालिदास बीसवीं शताब्दी की उपज होते तो क्या वे साहित्य के क्षेत्र की अपेक्षा फिल्म-क्षेत्र को पसन्द करते—यह कहना कठिन है। लेकिन 'बेलास' के कथन में इतना सत्य अवश्य है कि यदि कविकुल गुरु कालिदास और होमर अपने भावों को शब्दों और वाक्यों का परिवेश देने के बदले दृश्यों, बिम्बों, रूपकों और चित्रायोजन के माध्यम से प्रस्तुत करते तो उनकी कला में और निखार आ जाता। इस का मतलब यह नहीं कि शब्दों की शक्ति सीमित है और बिम्ब उनसे अच्छे हैं। शब्द या भाषा के अपने गुण हैं और जब से मानव ने बोलना सीखा है उसकी अभिव्यक्ति का प्रधान साधन भाषा ही रही है। लेकिन यह भी सत्य है कि आदिम मानव ने जब बोलना नहीं सीखा था तब वह अपनी बात बिम्बों और चित्रों से ही व्यक्त करता था। दृष्टव्य माध्यम की एक और विशेषता यह है कि वह देश-काल-और भिन्न-भिन्न भाषाओं की सीमाओं को लाँघते हुए अभिव्यक्ति का अन्तर-राष्ट्रीय माध्यम है। दृष्टव्य माध्यम के अन्तर्गत चित्रकला, मूर्त्तिकला, स्थापत्यकला, अभिनय-नृत्यकला और बीसवीं शताब्दी का नवीनतम कला-आयाम चलचित्रकला या फिल्म आती है।

फिल्म का जन्म

१९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में और २०वीं शताब्दी के आरम्भ में फोटोग्राफी पर बहुत शोध किया गया। लेकिन स्थिर छायाचित्रों (स्टिल फोटोग्राफी) से असंतुष्ट वैज्ञानिकों को (जिन में एडिसन अग्रणी थे) ऐसे कैमरा की खोज थी जिस के द्वारा वे गतिशील आकृतियों का छाया-अंकन कर पाते। देखा जाय तो यह जिज्ञासा सहज वैज्ञानिक-स्वभाव की थी। शायद उन लोगों को स्वप्न में भी यह अनुमान न था कि उनकी यह खोज एक दिन कला का सशक्त माध्यम बन जाएगा।

अमरीका में एडिसन और फ्रांस में लूमरे ने अपने-अपने कैमरों से चलती-फिरती तस्वीरों की सृष्टि की। और अमरीका और यूरोप के दर्शक इन्हें देख कर चमत्कृत हो उठे थे। थियेटर में बैठे-बैठे दर्शक कभी समुद्र-तट पर सैलानी बन जाते, तो कभी भयानक आग के पास रोते-बिलखते बेघर लोगों के बीच अपने-आप को पाते।

चलती-फिरती तस्वीरों की नवीनता समाप्त होने से पहले उन्होंने तरह-तरह के दृश्य अंकित करके अपनी आय को बनाये रखना ज़रूरी समझा। अब कैमरा चिड़ियाघरों, जंगलों, विधान-सभाओं, युद्धभूमि, हस्पतालों, नाचघरों, जादूखेल के हालों और सर्कसों में जाने लगा।

यह नवीनता भी जब खत्म होने को आयी तो नाच, मूक अभिनय और हास्य के स्टेज-कार्यक्रमों की फिल्में बनायी गयीं। इस समय तक भी स्वयं चलचित्र के जन्मदाताओं को इसकी उपलब्धियों का तनिक भी अनुमान न था।

एक स्वतंत्र कला-माध्यम का जन्म

फिल्म की अन्तर्निहित सम्भावनाओं को सब से पहले अमरीका के डेविड वार्क ग्रिफिथ ने पहचाना। तब तक वे १०००-१००० फीट की कई तमाशा-फिल्में (जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है) बना चुके थे। उन्होंने पहले एक पटकथा सोची, जो उनके समय की एक ज्वलन्त समस्या पर आधारित थी। फिर उसका निर्देशन करने के लिए उन्होंने चलती-फिरती फिल्मों के स्वभाव एवं प्रकृति का गहन अध्ययन करके उसे फिलमाने का आयोजन किया। फिल्म थी 'बर्थ आफ ए नेशन' (एक राष्ट्र का जन्म)। यह फिल्म अमरीकी गृहयुद्ध की पृष्ठभूमि पर बनी न केवल अमरीका की बल्कि संसार की पहली राष्ट्रीय फिल्म है। यह फिल्म अपनी समकालीन 'तमाशा-फिल्मों' से दस गुणा बड़ी थी और अपने समय की सर्वप्रिय फिल्म। पहली बार उद्देश्य को लेकर बनायी हुई यह फिल्म न केवल कथावस्तु में नवीनता और मौलिकता लिये हुए थी अपितु शिल्प और तकनीक के क्षेत्र में इस ने क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ला दिये। 'क्लोज़-अप' का प्रयोग पहली बार ग्रिफिथ ने ही किया और इन्होंने ही 'लाँग शाट' के बीच 'मिड-शाट' और 'क्लोज़-अप' देकर अभिव्यक्ति को सूक्ष्मता दे दी। तब तक प्राय: एक ही स्थान से, एक ही कोण से कैमरा रखकर 'सीन' चित्रांकित किया जाता था। फिल्म का सम्पादन (एडिटिंग) तब तक केवल फिल्म के टुकड़ों को जोड़ना-मात्र माना जाता था। ग्रिफिथ ने सम्पादन में भी ऐसे परिवर्त्तन ला दिये कि फिल्म के दो टुकड़ों को जोड़ना अपने में एक विशिष्ट कला बन गयी।

'ग्रिफिथ' के साथ फिल्मों में नया युग आरम्भ हुआ। उसके बाद सर्वत्र आदर्शवादी, ऐतिहासिक, भावनात्मक, समस्यामूलक और यथार्थवादी फिल्में बनने लगीं।

'बर्थ आफ ए नेशन' से संसार के कलाधर्मी सचेत हो गये, और कितने ही चोटी के चित्रकारों, मूर्त्तिकारों, लेखकों, नाट्य-निर्देशकों, अभिनेताओं ने इस नये माध्यम को अपनाया। याद रहे, तब फिल्में मूक बनती थीं, फिर भी उस ज़माने में रूस ने आइजन्स्टाइन, पुडोवकिन, डोवचिनको, अमरीका ने चार्ली चेप्लिन फ्राँस ने रेने क्लेअर, यां टेनोअर आदि चोटी के फिल्म-निर्देशकों को जन्म दिया। और इन्हीं महारथियों की साधना के फलस्वरूप फिल्म को 'टेन्थ म्यूज़' (दसवीं कला) की संज्ञा मिली।

उसके कई वर्षों बाद फिल्मों को वाणी मिली। सवाक् फिल्म कलाकार की इच्छा के बदले वैज्ञानिक की जिज्ञासा के फलस्वरूप जन्म ले पायी। अत: सवाक् फिल्मों का स्वयं महान निर्देशकों ने विरोध किया। उन्हें लगा कि मूक होने के कारण जो अभिव्यक्ति मूक फिल्मों में विकास पा गयी थी वह 'वाणी' से अवरुद्ध हो जाएगी और बिम्बों का स्थान सम्भाषण लेगा। कोई आश्चर्य नहीं कि वाक फिल्मों के घोर विरोधी चार्ली चेप्लिन भी थे।

फिल्म का स्वरूप-स्वभाव और प्रकृति

दसवीं कला (टेन्थ म्यूज), का जन्म औद्योगिक क्रान्ति और वैज्ञानिक जिज्ञासा के

परिरणय से हुआ । अपने जन्मदाताओं द्वारा उपेक्षित यह वैज्ञानिक आविष्कार अन्य लाभ-हीन आविष्कारों की तरह अपनी मौत आप मरता यदि संसार के कलामनीषि जनक की तरह इसको नया जीवन न देते । कलाकारों ने अन्य कला-माध्यमों के गुरा चुन-चुन कर इस में भर दिये और इसके स्वतंत्र रूप का निर्माण किया । चित्रकला, मूर्त्तिकला, स्थापत्यकला नाट्यकला, अभिनय, संगीत, नृत्य, साहित्य और सम्भाषण की बारीकियों से सजे-धजे माध्यम को कई लोगों ने दूसरों के सहारे जीने वाले 'पैरेसाइट' (पर-जीवी) की संज्ञा दी है। लेकिन इसे 'पैरेसाइट' मानने वाले लोग इस बात से इन्कार नहीं कर सकते हैं कि उपरोक्त नौ-कलाओं की आत्मजा का स्वभाव अपने नौ-पूर्वजों से सर्वथा भिन्न है ।

चित्रकला से चित्रायोजन (कम्पोज़िशन) और तीन 'डायमेन्शन', मूर्त्तिकला से अनुपात (प्रोपोरशन), स्थापत्यकला से 'परस्पेक्टिव' और 'एलिवेशन', साहित्य से भाषा का गाम्भीर्य, नाटक से रस-व्युत्पति और रसानुभूति, संगीत से लय और ताल, नृत्य से गति आदि गुरा ग्रहण करने वाले माध्यम का स्वभाव एवं प्रकृति इन मूल कलाओं से सर्वथा भिन्न है । चित्रकला, मूर्त्तिकला, स्थापत्यकला 'देश' (Space) में स्थित हैं एवं जड़ हैं । जबकि संगीत, नृत्य, अभिनय, सम्भाषण कालधर्मी हैं (अर्थात् Time में स्थित हैं ।) कालधर्मी कलाएं काल में विद्यमान रहती हैं—अर्थात् वे वर्त्तमानकाल में जीवित हैं । ज्यों ही वर्त्तमान भूत बन जाता है, ये कलाएं अतीत हो जाती हैं । फिल्म में चित्रकला की जड़ता, चित्रायोजन और 'थ्री-डायमेन्शन' होते हुए भी नृत्य की गति है—या दूसरे शब्दों में फिल्मों में चित्रकला, जो देश-धर्मी' है 'कालधर्मी' बन जाती है । यही फिल्म की अपनी प्रकृति है, जो उसे अपने पूर्वजों की सीमाओं-मर्यादाओं से मुक्त करती है । लेकिन यह गुरा इस की अपनी मर्यादा भी है । जैसे आप चित्रकला के चित्रायोजन को जब चाहें देख सकते हैं (क्योंकि वह देशधर्मी है) लेकिन फिल्म में किसी एक दृश्य की 'कम्पोज़िशन' आप एक स्थिर इकाई (स्टिल, फ्रेम) के रूप में न देख कर एक गतिमयता (Continuation) में देख सकते हैं और देखने के बाद उसका काल-ग्रास हो जाता है ।

इसी तरह नाटक के काल, देश और कर्म नामक तीन संयम (Unity of space, time and action) फिल्म की मर्यादाएँ नहीं हैं । दूसरी ओर साहित्य और काव्य की यह विशेषता कि आप जितनी बार चाहें किसी एक अध्याय, संदर्भ, वाक्य, पंक्ति, शब्द को पढ़ सकते हैं (क्योंकि वह देश में स्थित है) फिल्म में नहीं है । यही कारण है कि फिल्म की 'भाषा', फिल्म में व्यक्त 'उद्गार', फिल्म में अभिनीत 'मुद्रायें' आदि इतनी स्पष्ट, सरल और हृदयग्राही होनी चाहिएँ कि एक बार देखने-सुनने के बाद ही याद रहें ।

औद्योगिक क्रान्ति की पुत्री 'फिल्म' को अपनी मां (उद्योग) से एक विशेष गुरा यह मिला है कि (उद्योग की तरह) उसका उपभोग (प्रयोग) सार्वजनिक पैमाने पर होना चाहिए । यह सार्वजनिक स्वरूप (Mass appeal) इसका महान गुरा भी है और सीमा भी । इस सार्वजनिक माध्यम के दो पहलू हैं । पहला यह कि इतने सारे तंत्रों, साधन-प्रसाधनों, शिल्पियों-कलाकारों, लेखकों-चित्रकारों, अभिनेता-अभिनेत्रियों और अन्य तकनिशनों के परस्पर सहकार

से लाखों की लागत से बनी फिल्म का प्रदर्शन जब तक सार्वजनिक रूप से न हो, मूल-लागत निकालना कठिन हो जाता है। यही कारण है कि 'जन-रुचि' (मास-अपील) को बनाये रखने के लिए प्राय: औसत-रुचि या निम्नतम अभिरुचि की फिल्में बनाने का हर जगह (भारत में) अधिक) प्रचलन है। दूसरा पहलू यह कि नाटक अभिनय-नृत्य आदि की तरह इस का रसास्वादन स्थान-विशेष (थियेटर, सिनेमा हाल या ओपन एयर) में ही सम्भव है। अत: व्यक्ति को इन प्रेक्षक घरों में आकर दर्शकों के समुदाय का एक भाग बनना पड़ता है। और वहां आकर उसकी रुचि, उसके सौन्दर्य-बोध, उसके चेतन-अर्द्धचेतन-अचेतन मन पर समूह की रुचि बड़ी अधिक मात्रा में छा जाती है। यह स्थिति विचारवान-प्रबुद्ध सुसंस्कृत और परिष्कृत व्यक्तियों की होती है। अन्य व्यक्ति अपनी इकाई भूल कर समूह का भाग बन जाते हैं। और ऐसी अवस्था में समूह की निम्नतम रुचि उनकी रुचि बन जाती है। ऐसा भी देखा गया है वही वाक्य जो अकेले में बिल्कुल छू नहीं सकता, समूह में खूब हंसाता है या खूब रुलाता हैं। देशभक्ति, और सामाजिक भावनाओं (जैसे समाज के प्रति व्यक्ति का उत्तरदायित्व कर्त्तव्य, विद्रोह, अन्याय के प्रति विरोध आदि) का बोध समूह में ही अधिक होता है। एक गन्दा उपन्यास या चित्र पढ़ने और देखने वाले पर जितना प्रभाव डालता है उस से हज़ार गुणा प्रभाव उसी कोटि की फिल्म डालती है। उसके दो पक्ष हैं। पहला समूह गुण। और दूसरा फिल्म की हृदय ग्राह्यता। तनिक इस दूसरे पक्ष पर विचार करें। उपन्यास या काव्य पढ़ते समय पाठक केवल स्वानुभूति से ही दृश्य की कल्पना कर सकता है लेकिन फिल्म में वह कानों से उपन्यास या काव्य के पात्रों के विचार सुनता है, उस स्थिति के रस को व्यक्त करने वाले संगीत का श्रवण करता है तथा उस स्थिति में सुनाई देने वाले वार्त्तालाप-इतर ध्वनियों (सार्थक-निरर्थक दोनों) के सुनने से उस स्थिति की सत्यता को अनुभव करने लगता है। यह इस पक्ष का श्रव्य पहलू था। दृश्य पहलू में वह उस घटना को घटते देखता है, हाव-भाव, मुद्रा-भंगिमा; अभिनय को अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त दृश्यायोजन (सिनारियो), नाटकीय प्रवेश और प्रस्थान, भाव और मूड के अनुरूप चित्रायोजन (कम्पोज़िशन), साजसज्जा, वस्त्रालंकार, रंगायोजन (कलर-स्कीम), सेटिंग (जहां दृश्य अभिनीत होता है), फोटोग्राफी और प्रकाशायोजन फिल्म दृश्य के प्रभाव को कई गुणा बढ़ा देते हैं।

इस तरह के दृष्टव्य और श्रव्य माध्यम (Audio-visual medium) में दर्शक को हरेक बात पकी-पकायी मिलती है—उसे किसी अस्पष्ट बात की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। और अगर फ़िल्म तनिक सी भी प्रभावोत्पादक हो तो वह दर्शक को अपने साथ बहा ले जाती है। अपरिपक्व तरुण-तरुणियों और बालक-बालिकाओं में फिल्म के कुप्रभाव पर पिछले दिनों जितनी चर्चा हुई है, वह सर्वविदित है। राजनैतिक भावनाओं को उभारने में भी फिलम बड़ी सफल सिद्ध हुई है। 'नात्ज़ी जर्मनी' की स्थापना और अपने ही दक्षिण भारत (विशेषकर मद्रास में) 'द्रविड मुन्नेत्र कषगम' की देश विरोधी, राष्ट्रद्रोही गतिविधियों को बल देने में फिलमों का बहुत ही कुप्रयोग हुआ है। इसके विपरीत रूस में देश के पुनर्निर्माण के लिए फिलम माध्यम का बहुत उपयोग किया गया। यूरोप और अमरीका में युद्ध काल में युद्ध प्रयत्नों को बढ़ावा देने के लिए फिल्मों का समुचित प्रयोग हुआ। उन्होंने समाज और

देश की हर विषम समस्या को फिल्मों द्वारा प्रस्तुत करके जनमानस को उद्वेलित किया । अब तो इन देशों के स्कूलों में अधिकांश विषय फिल्मों द्वारा पढ़ाये जाते हैं ।

मुझे यह लिखने में रंचमात्र भी संकोच नहीं कि कृत्रिमत्ता और अति नाटकीयता के कारण मैंने शेक्सपियर के साहित्य को कभी पसन्द नहीं किया है लेकिन इसी शेक्सपियर की रचनाओं का रसास्वादन मैंने हालिवुड में बनी (जूलिस सीज़र, ओथेलो, मेकबेथ), सर लारेन्स आलिवर कृत 'हेमलेट', रूसी 'ओथेलो' और 'हेमलेट' जापानी 'मैकबेथ', तथा चेकोस्लोवाकिया के यिरी त्रिन्का कृत कठपुतली फिल्म 'ए मिड सम्मर नाइट्स ड्रीम' से किया है ।

और मैं सोचता हूं—बेला बेलास ने ठीक ही कहा है। "यदि आज कालिदास जीवित होते......।"

● ● ●

आज हिन्दी में लेखकों और पाठकों का एक विशाल समुदाय अच्छी साहित्यिक कृतियों और प्रेरक साहित्यिक विचारों के लिए उद्विग्न और लालायित रहता है । फिर भी ये उन्हें सुगमता से मिल नहीं पाते । कारण यह है कि हिन्दी का यह विशाल समुदाय अधिकतर असंगठित है ।

हिन्दी में अच्छी पुस्तकें और अच्छी पत्रिकाएँ कम इसलिए बिकती हैं कि हिन्दी का यह बृहत् पाठक समाज बहुत-कुछ केन्द्रविहीन है । इतना ही नहीं, उचित दिशा-दर्शन के अभाव में वह साहित्य के प्रति उदासीन रहने लगा है । हमारी पत्र-पत्रिकाएँ भी इन पाठकों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझतीं और प्रायः अपने संकीर्ण और छोटे घेरों में ही घिरी रहती हैं ।

यह बड़ी दयनीय स्थिति है । आवश्यकता अब इस बात की है कि हिन्दी में साहित्यिक स्तर पर लेखकों और पाठकों का एक राष्ट्रव्यापी संगठन हो । ऐसे संगठन सभी समृद्ध साहित्यों के पीछे रहा करते हैं ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

('ज्ञानपीठ पत्रिका' से साभार)

●